

PRINTED BY
Krisna Gopal Kedia
BANIK PRESS,
1 SIRCAR LANE, CALCUTTA

१९३८

मूल्य १।)



राष्ट्र-निर्माण में हिन्दी साहित्य

आधुनिक युगमें संगठन ही शक्ति है। यही बात बराबर लोग कहते चले आये हैं और यही निरन्तर देखने में भी आता है। यदा पाश्चात्य और यदा पूर्वोक्त लोगों देशोंमें शक्तिशाली अर्थ ही संगठन है। एक देश अथवा एक जातिवर्ग विविध शक्तियोंसे संगठित ही राष्ट्रीयताकी भावना उत्पन्नित होती है। तब यदा यह राष्ट्र-निर्माण सहसा अपने भाव विधि-विधानका हा ही जाता है या इसके सम्राट्त्व का कुछ दिनों का अन्त्य हो जाता है। इस प्रकार केवल राष्ट्रिय संगठन ही देश की शक्ति

पहुँच गयी है कि इसपर किसी भी विचारशील व्यक्तियों
 जरा भी सन्देह तो ही नहीं रहना। किन्तु जब भी कभी
 कभी और वहाँ वहाँ प्रश्न उठता है कि राष्ट्रभाषा कौनसी
 हो सकती है ? इस विषयमें भी भारतीय राष्ट्र-विधायकोंने
 एवं राष्ट्रके एक बहुत बड़े बङ्गने, अपना मत निर्दिष्ट कर
 लिया है और उनका यह निश्चय किसी पक्षपातकी भावना
 पर नहीं, बल्कि अपने-आपके सुविचारित न्यायोचित सिद्धांतों
 पर अवलम्बित है। सब बात तो यह है कि राष्ट्रभाषादे गौरव
 की अधिष्ठातिपूर्ण ईदल वहाँ भाषा हो सकती है जो राष्ट्र-
 के सबसे बड़े समूहों द्वारा व्यवहृत होती हो, जिसमें
 उनकी इच्छा हो कि यह उन्हें जैसा दिखती हो, जिसमें
 सम्भीरताके साथ राष्ट्रभाषा की समीक्षा की जा सकती हो
 और साथ ही उनकी सरल एवं सुललित भाषा हो कि अन्य
 भाषा-भाषी इसके परिशीलनमें विरोध व्यक्त न करे।

जो तो एक समय था कि भारतीय प्रान्तोंकी भाषा
 सभी भाषाएँ एक ही भाषा में होनी चाहती थी और
 अपनी अपनी भाषा में ही रहनी चाहती थी। 'राष्ट्रभाषा' होनेका
 दावा ऐसा एकदम ही नहीं हो सकता था बल्कि निश्चित

पर तो किसीको अपनी विशेष कोमलता पर । यदि एकने
 आधुनिक युगके सर्वमान्य महापुरुषको पैदा किया था
 तो दूसरीने सबसे सुन्दर राजनीतिक निबन्ध-लेखक को
 इसी प्रकार तीसरीका दावा था अपने परम समुन्नत
 साहित्य एवं कविता और उपन्यासोंपर—और साथ ही
 साथ अपनी अपनी प्राचीनताका गुमान भी किसीको कम
 न था । परन्तु धीरे धीरे समय बदलता गया और तथ्यके
 सुलभनेमें विशेष देर न लगी । क्या प्राचीनता और
 क्या उपयोगिता, प्रायः सभी दृष्टियोंसे सबको अपनी
 सबसे बड़ी वहन 'हिन्दी' का हो अधिकार स्वीकार करना
 पड़ा । अब भी कहीं कहीं आवाज उठती है कि हिन्दी तो
 हिन्दुओंकी भाषा है, अतः मुसलमान इसे स्वीकार नहीं
 कर सकते और यदि हिन्दी राष्ट्रभाषा हो सकती है तो
 उर्दू ही क्यों न हो ? इसे सुनकर आश्चर्य एवं दुःख दोनों
 का ही अनुभव होता है । इस प्रस्तावको पेश करनेवाले
 यह सोचनेका कष्ट नहीं उठाते कि यदि हिन्दी हिन्दुओं
 की भाषा है तो उर्दू किसकी भाषा है ?

यद्यपि मेरे लिये यहां यह सम्भव नहीं कि मैं 'उर्दू'
 नामक भाषाका इतिहास आपके सम्मुख रखूँ; परन्तु फिर

भी कुछ आवश्यक बातें सामने रखना जरूरी समझता हूं।
 भाषाका पारस्परिक भेद फेदल उसकी शब्दावलीपर ही
 निर्भर नहीं रहता, बरन उसकी व्याकरण-विषयक अन्य
 विशेषताओंपर ही होता है। अब इस दृष्टिसे यदि उर्दू
 नामक भाषाका अध्ययन किया जाय तो यह प्रत्यक्ष हो
 जाता है कि शब्दावलीको छोड़कर अन्य किसी प्रकार भी
 वह फारसी या अरबीके निकट नहीं है; बरन उत्तर-काल
 से ही उसका ढाँचा हिन्दीकी 'खड़ी बोली' के साँचेमें ही
 ढल चुका है। हां इधर कभी कभी देखनेमें आता है कि
 कुछ व्यक्ति इस प्रचलित भाषाको भी फारसीके पुराने एवं
 अप्रचलित ढाँचेमें ढालनेकी चेष्टा करते हैं; परन्तु ऐसे
 प्रयत्न भाषामें स्वाभाविकताके अतिरिक्त और कोई गुण
 नहीं उत्पन्न कर सकते। इंशा, दाग़, मोर और ग़ालिब
 की यह भाषा जिस समय अपने सर्वोच्च शिखरपर थी
 उस समय अरबी और फारसीके प्रचलित शब्दोंके होते
 हुए भी इसमें एक विशेष स्वाभाविकता थी और या एक
 अनोखा लालित्य, क्योंकि तब उनकी यह भाषा वहाँके
 जनसाधारणकी भाषाने साँचेमें ढल रही थी और साथ
 ही साथ उसमें नरन शब्दों और भावोंका योग देकर उसे

भी समुन्नत कर रही थी। वह भाषा शब्दावलीको छोड़कर और किसी प्रकार हिन्दीसे भिन्न न थी। आधुनिक अस्वाभाविक पार्थक्यकी भावनाका उसमें लेश भी नहीं पाया जाता था। इसे हम मुसलमानोंकी हिन्दी ही कहेंगे और वास्तविक बात भी यही है कि यह भाषा हिंदीके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वर्त्तमान राजनीतिक कटुताके कारण हमारी दृष्टिकी समतामें भी भेद पड़ चुका है; परन्तु राष्ट्रके निर्माण एवं उसके संगठनका क्षेत्र बहुत अधिक विस्तृत और व्यापक है। वहांका कोई पार्श्व संकुचित दृष्टिसे नहीं देखा जा सकता। अतः हमारा प्रस्तुत अवसर भी हमें बाध्य करता है कि हम इन प्रश्नों पर अधिक उदार एवं सुलभी हुई दृष्टिसे विचार करें।

यों तो प्रत्येक कालमें देशके विविध भागोंकी भाषाएँ भिन्न भिन्न रह चुकी हैं; किन्तु इतिहासका पन्ना इस बातकी साक्षी देगा कि ब्रह्मावर्त' जो अनादि कालसे ही आर्य सभ्यता एवं सस्कृतिका केन्द्र रहा है, वहाकी भाषा सदासे ही अधिक व्यापिनी एवं प्रभावशालिनी रही है। यदि प्राकृत और अपभ्रंशके युगमें शौरसेना थी तो मुगल साम्राज्यमें उनकी भाषा फारसी भी यही फली-फूली

लताले कदाचित् दूसरी भाषाको ग्रहण नहीं कर पाते। इसका मुख्य कारण यही है कि हिन्दी ब्रह्मावर्तकी भाषा होनेके कारण संस्कृतके अत्यन्त सन्निकट है और अन्य सभी भाषाओंपर संस्कृतकी अमिट छाप होनेके कारण हिन्दी सहसा उनके सन्निकट हो जाती है। इसके अतिरिक्त उसमें इतनी नैसर्गिक व्यापकता है कि वह बिना किसी विशेष कठिनाई अथवा अस्वाभाविकताके ही अन्य प्रान्तीय भाषाओंमें घुल-मिल जाती है तथा उन्हें अपनेमें मिलाकर अपना रूप प्रदान कर देती है। इसकी यह नीति इसे प्रति दिन अधिक प्रौढ़ एवं सुसम्पन्न बनाती जाती है। प्राचीन समयसे ही इसने आदान-प्रदानके विषयमें अपनी नीति उदार रखी है। इसकी शब्दावलि संस्कृतके शब्दोंकी उत्तराधिकारिणी तो है ही; साथ ही अन्य प्रान्तीय एवं विदेशीय भाषाके शब्दोंकी भी कमी यहाँ नहीं देख पड़ती। कहींवा कोई शब्द या महावरा यदि भाव-योजनामें सुविधा उपस्थित करता है तो उसे हिन्दीने तदाके लिये अपना लिया है। कदाचित् यही कारण है कि किसी भी अन्य प्रान्तका निवासी हिन्दीको अपनायात ही समझ जाता है और इसके दोलनेमें किसी विशेष संकोच-

का अनुभव नहीं करता । वरन् स्थल स्थलपर इसमें वह अपनी ही बोलीके चिह्न पाता है और परायेपनकी भावना उसके चित्तमें नहीं उठने पाती । इन उपर्युक्त गुणोंका सबसे बड़ा प्रमाण हमें दक्षिणके उन प्रान्तोंमें मिलता है जहाँपर अनाय भाषाएँ बोली जाती हैं । हममेंसे जिन्हें मद्रास प्रान्तमें हिन्दी-प्रचार-कार्यको देखनेका अवसर मिला होगा वे कह सकेंगे कि लगभग दस वर्षके भीतर ही वहाँके लाखों आदमियोंने हिन्दी भाषा सीख ली और वे बिना किसी विशेष असुविधाके ही हिन्दीको राष्ट्र-भाषा स्वीकार करनेके लिये तैयार हैं । राइट ओनरेबल पं० श्रीनिवास शास्त्री कहते हैं कि “यदि मैं भारतीय राष्ट्र का डिक्टेटर होता तो अपनी सारी शक्ति लगाकर सारे स्कूलों, कालेजों, दफतरो तथा सरकारी न्यायालयोंमें हिन्दु-स्तानी भाषाका ही प्रचार कर देता ।” निश्चय ही यह तो तभी हो सकता है जब कि ऐसे विचारशील पुरुषोंने हिन्दीमें इतनी बड़ी सेवा-सम्पादनकी क्षमता देख ली हो ।

पिछली मनुष्य-गणनाके अनुसार भारतवर्षमें हिन्दी समझनेवालोंकी संख्या ७१—८ प्रतिशत है तथा हिन्दी बोलनेवालोंकी संख्या ६८'६ प्रतिशत है । यह तो हुई संख्या

की बात; किन्तु किसी भाषाका महत्व केवल उसके तात्विक सिद्धान्तोंसे ही नहीं मापा जा सकता; वरन् उसके साहित्य की उच्चता भी उसके महत्वकी एक कसौटी हुआ करती है। अब यदि इस दृष्टिसे हिन्दी-साहित्यकी धोड़ी-सी जांच की जाय तो बिना किसी विशेष कठिनाईके ही यह बात समझमें आ जाती है कि आदि कालसे ही इस भाषाका साहित्य भारी भारतीय राष्ट्रकी प्रतीक्षा कर रहा था और यथासम्भव उसके विविध अंगोंकी पूर्ति करके उसे राष्ट्र-निर्माणके सुदृढ़ पथ पर अग्रसर कर रहा था। यद्यपि हिन्दी साहित्यके सम्पूर्ण इतिहासका उल्लेख करना हमारा उद्देश्य नहीं है, तथापि उसकी वे विरस्मरणीय सेवाएँ, जो उसने समय-समय पर की थीं और जिन्हें हम अपने आधुनिक राष्ट्रके प्रथम तोपान कह सकते हैं, उनका उल्लेख न करना क्षम्य न होगा।

हममेंसे जिन्होंने हिन्दीके रास्ते-साहित्यका अध्ययन किया होगा वे कह सकेंगे कि उनमें विदेशी आक्रमण-कारियोंके विरुद्ध आत्म-संगठन करनेके लिये कितनी वार्ता-पुकार भरी हुई है। देश और जन्मभूमिके प्रेमके उनमें कितने अनूठे चित्र अंकित हैं और साथ ही साथ

सच्ची धीरता और आत्मत्यागके जोशसे वे किस कदर लयालय हैं। कौन विद्वान् यह कहनेका साहस कर सकता है कि भारतीय साहित्यमें देश प्रेम अथवा राष्ट्रप्रेमके लिये स्थान ही नहीं था, अथवा 'Patriotic Note' का आह्वान तो अब केवल वर्तमान युगकी नवीनता है? ऐसा कहना केवल उनके अज्ञानका सूचक हो सकता है। और रासो-साहित्यने ऐसे वीर उत्पन्न कर दिखाये जिन्होंने दुर्दिनके अन्धकारमें भी स्वतन्त्रता और आत्म-संगठन का राग अलापकर मृतप्राय आर्य जातिको फिरसे जिला-नेका सफल प्रयत्न किया था। महाराज छत्रसाल और वीर-शिरोमणि शिवाजीकी अमर कीर्तिमें कविवर लाल और भूपणका कितना भाग है, यह बतानेकी आवश्यकता नहीं। यह भी तो राष्ट्र-निर्माणकी ही एक सीढ़ी थी। अब यदि इस पार्श्वको छोड़कर राष्ट्रके मानसिक संग-ठनकी ओर हम दृष्टिपात करें तो कबीर, तुलसी, सूर, नानक, रैदास, सहजा, विद्यापति, वृन्द, गिरिधर, दादू और स्वामी दयानन्द इत्यादिने कितनी बड़ी सेवा की है, इसे कौन नहीं जानता है? धार्मिक सकटके उस महा भयंकर समयमें, जिस समय जनताका चित्त भय, त्रास,

और शंकासे डाँवाडोल हो रहा था, उस समय सत्य और विश्वासकी दिव्य ज्योति जगाने वाले इन महात्माओंके अतिरिक्त और इतना शक्तिशाली कौन हो सकता था जो लाखों मनुष्यको शान्ति प्रदान करता ? केवल यही नहीं, वरन उतनी अगणित आत्माओंको आत्म-संयमका पाठ पढ़ाकर एक सूत्रमें बांधकर युगों तक रखने वाली उनकी शक्तिके अतिरिक्त और दूसरी कौनसी शक्ति हो सकती थी ? आज भी 'रामचरित-मानस' न जाने कितने करोड़ व्यधित हृदयोंको सन्मार्गका उपदेश करता है। कबीरका 'बीजक' अगणित हृदयोंमें प्रेम, सत्य और लगनका सुन्दर बीज बो रहा है। आज भी अष्टछाप देशमें स्नेह और प्रीतिकी अगणित नदियाँ बहाकर लाखों पवित्र हृदयोंपर अपनी अनिट छाप लगा रहा है। तब क्या आत्मसंयमका पाठ पढ़ाने वाली तथा मानसिक संगठन करने वाली इससे भी बड़ी शक्तियाँ आजतक किसी राष्ट्र को कभी प्राप्त हो सकी थीं ? हो सकता है कि कोई किसी अन्य देशके अधिक ऊँचे साहित्यकी दोहाई दे। परन्तु एक बात स्मरण रखनी होगी कि अन्य सर्वत्र ही साहित्यके निर्माता केवल साहित्यके ही सेवक थे और

निस्सन्देह उन्हें साहित्यका पाण्डित्य भी प्राप्त था। पर-
न्तु इस विषयमें भारतको जो विशाल सौभाग्य प्राप्त
हुआ है वह कदाचिद् संसारके किसी देशको भी नहीं
प्राप्त हो सका। अर्थात् हिन्दी-साहित्यका निर्माण उन
महात्माओंके पवित्र हाथोंसे हुआ था जो साहित्यके
पण्डित तो थे ही किन्तु इससे भी कहीं ऊपर थे वे परम
तपस्वी और उद्यमोन्मुख थे। हिन्दी-साहित्यका स्मार्ण-
युग उन रत्नोंसे आभूषित है जिनका एक एक कण मानव
हृदयके पवित्रतम कोनेसे बही ही सरस, सुन्दर तथापि
पुनीत भावनाको लेकर उत्पन्न हुआ था। यही कारण है
कि इस साहित्यका प्रभाव इतना प्राचीन होते हुए आज
भी इतना नवीन है, क्योंकि लोग कहते हैं कि 'सत्य
कभी पुराना नहीं होता'।

यों तो संसारका प्रत्येक साहित्य अपने अपने आदर्श
लेकर ही उत्पन्न होता है और बहुतसे अंशोंमें उनकी
परिपाटियाँ भी एक दूसरेसे भिन्न होती हैं, तथापि इतनी
विभिन्नता होते हुए भी प्रत्येक उच्च साहित्यमें एक आन्त-
रिक समानता अवश्य होती है; और इसीको कहते हैं
विश्व-साहित्यकी कसीटी। इसका बहुत अधिक विश्ले-

पण न करके केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यह मुख्यतया मानव-हृदयकी उन समानताओंपर अवस्थित है जो विश्व-व्यापिनी हैं तथा जिनका सम्बन्ध व्यक्ति-विशेष, जाति-विशेष अथवा देश-विशेषसे न होकर मनुष्य-मात्रसे हुआ करता है। इस सच्ची कसौटीपर यदि हम अपने साहित्यको कसते हैं तो निष्पक्ष भावसे यह सिद्ध हो जाता है कि इसकी अपील केवल भारतीय हृदय तक ही परिमित नहीं है, बरन वह तो विश्वको प्रभावित करनेकी शक्ति रखती है। इसके प्रमाणके लिये मुझे दूर न जाना होगा। आपके सम्मुख मैं केवल उस छोटी सी पुस्तकका ही नाम लूँगा जिसे आधुनिक संसार 'Hundred Poems of Kabir' के नामसे ही जानता है। यद्यपि यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि इस छोटी सी पुस्तकमें कविवर ठाकुर, कबीरका सर्वस्व नहीं ला सके हैं और न शायद उनके सबसे सुन्दर शब्दोंका संग्रह ही किया जा सका है; तथापि अमेरिका और यूरोप जैसे सुदूरवर्ती देशोंने इस पुस्तकका जितना आदर किया है वह हमारे उपर्युक्त कथनको अक्षरशः सिद्ध करनेके लिये पर्याप्त है। इस विलक्षण

प्रभावका कारण मैंने ऊपर संक्षेपमें बतानेका प्रयत्न किया है, अतः उसे दुहरानेकी आवश्यकता नहीं। इन महत्वपूर्ण प्रश्नोंपर विचार करते समय एक प्रश्न निरन्तर हमारे सम्मुख रहता है कि वह कौन सी युक्ति हो सकती है कि जिसके द्वारा यह अलौकिक निधि सारे राष्ट्रकी हो जाय तथा प्रत्येक व्यक्ति उससे एक-सा ही लाभ उठा सके ? यह प्रश्न सम्मुरा आते ही पुनः राष्ट्रके लिये एक भाषाकी आवश्यकता प्रतीत होने लगती है। अभी उस दिन राष्ट्रभाषाके समर्थक एक विद्वान्ने कहा था कि यद्यपि राष्ट्र-संगठनके लिये हमें एक ही भाषाकी आवश्यकता है और वह होनी भी चाहिये, लेकिन तो भी विभिन्न प्रान्तिक भाषाओंके द्वारा साहित्यकी वृद्धि रुकनी नहीं चाहिये। इसके समर्थनमें उन्होंने यूरोपका उदाहरण देते हुए कहा था कि "जब तक वहांके लेखक लैटिन भाषामें अपने भाव प्रकाश करते थे तब तक कोई उच्चकोटिका साहित्यके लोग तैयार न कर सके; परन्तु ज्योंही वे लोग अपनी अपनी भाषाओंमें अपने भाव प्रकट करने लगे त्योंही साहित्य उच्च स्थानपर पहुच गया।" यूरोपके लिये सचमुच यह बात ठीक हो सकती है, परन्तु विलकुल

वही बात भारतके लिये लागू नहीं। क्योंकि वहाँकी विभिन्न भाषाओंसे जो सम्बन्ध 'लेटिन' का था वही सम्बन्ध हमारी हिन्दीका अन्य भारतीय प्रान्तिक भाषाओंसे नहीं है। हो सकता है कि संस्कृतसे सम्बन्ध कुछ वैसा हो जाय। इसके अतिरिक्त एक दूसरी कठिनाई यह उपस्थित हो जायगी कि तब फिर हमारे देशके प्रतिभावानोंकी प्रतिभा प्रान्तीय भाषाओं तक ही सीमित रह जायगी और उसका प्रभाव व्यापक न हो सकेगा। यात जहाँ को तहाँ ही रह जायगा और लोगोंको अनुवादोंके अतिरिक्त फिर और कोई सहारा न रह जायगा। यह परिस्थिति भी अधिक वाञ्छनीय न होगी, क्योंकि इसमें राष्ट्र-भाषाका मूल्य ही क्या रह जाता है? कुछ विचारशील पुरुषोंका अनुभव है कि हिन्दी भाषाका व्याकरण कुछ अधिक सरल किया जाना चाहिये तथा उसके नियमोंमें थोड़ीसी व्यवस्था और ऐसी चाहिये। मुझे खेद है कि मैं अपने मित्रोंसे अधिक दूर तक सहमत नहीं हो सकना। किन्ता भी प्रचलित जंघित भाषाको व्याकरणके नियमोंसे जकड़नेके प्रयत्नमें कभी सफलता नहीं मिल सकती, इस कथनसे कोई यह न समझे कि व्याकरणके नियमोंका

मूलोच्छेद अभिप्रेत है। वरन कहनेका आशय केवल यही है कि किसी भी जीवित भाषाकी सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि उसमें वृद्धिके लिये काफी स्थल रहना चाहिये, तथा नवीन प्रयोगोंके समावेशकी पर्याप्त क्षमता होनी चाहिये, ताकि जीवनकी विविध वृद्धिके साथ ही ज्यों ज्यों हमारे विचारोंका विकास होता जाय तथा उनमें पुष्टता आती जाय त्यों त्यों भाषाकी पुष्टता एवं उसकी परिधि भी बढ़ती जानी चाहिये। यदि ऐसा न हो सका तो समताका क्षय हो जायगा और विकासका क्रम रुक जायगा। इस दृष्टिसे यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि व्याकरणके कठिन नियमोंका निर्वाह नहीं हो सकता। उन नियमोंकी मृदुता ही उनका परम गुण है, वरन व्याकरणका सुधार इस दृष्टिसे अवश्य किया जाना चाहिये, कि यदि उसके कुछ नियम भाषाके विकासके बाधक होते हों तो उनका परिष्कार शीघ्र ही हो जाना चाहिये।

इसके अतिरिक्त हमारे सम्मुख एक और सबसे आवश्यक प्रश्न है लिपि का। शिक्षाके प्रचारमें जितना आवश्यक भाषाका प्रश्न है, लिपिका प्रश्न उससे कम आवश्यक

नहीं। जिस प्रकार राष्ट्रको एक भाषाकी आवश्यकता है
 उसी प्रकार उसे एक लिपिको भी आवश्यकता है। यह
 देखकर संतोष अवश्य होता है कि वर्तमान युगमें विद्वानों-
 का ध्यान इस महत्व-पूर्ण प्रश्नकी ओर आकृष्ट हो चुका
 है और वे लोग निरन्तर इसपर विचार कर रहे हैं, तथापि
 कभी कभी एक-आध ऐसे बुद्धिमान भी देखनेमें आते हैं
 जो सरासर बल्टी गंगा बहानेका प्रयत्न करते हैं। टर्की
 और अन्तरराष्ट्रीयताकी दोहाई देकर वे 'रोमन' लिपिको
 भारतकी राष्ट्र-लिपि प्रमाणित करनेका प्रयत्न करते देख
 पड़ते हैं। ऐसे ही कुछ सज्जन भूतकालमें बंग्रेजीको ही
 राष्ट्रभाषा बनानेका स्वप्न भी देख चुके हैं। यदि टर्कीने
 रोमन लिपिको अपनाया तो इसके पास चारा ही क्या
 था? क्योंकि वहा तो उनकी कोई लिपि थी ही नहीं।
 वहाकी प्रचलित लिपि अरबी यदि वे न रख सके तो
 उसका कारण था उसकी अवैज्ञानिकता, परन्तु भारतवर्ष
 को इसकी क्या आवश्यकता? वहाकी देवनागरी लिपि
 जो स्वरोंकी साहस्यतासे तथा अपनी स्वाभाविक वैज्ञा-
 निकतामें आज भी अपना स्थान नहीं रखती, उसे रोमन
 जैसी सद्गन्ध अक्षूण और क्लिष्ट लिपिते पारवर्तित

उनके सम्पर्कमें आना पड़ता है ? यह संख्या इतनी अल्प
 एवं नगण्य ठहरती है कि उसके पीछे सारे देशको असु-
 विधामें परिप्लावित कर देना कभी वांछनीय नहीं हो
 सकता । देवनागरी लिपिकी यह भी एक विशेषता है कि
 हिन्दी भाषाके समान वह भी प्रायः सभी अन्य भारतीय
 प्रचलित लिपियोंके अत्यन्त सन्निकट है । अतः उसे
 सीखनेमें किसीको कोई विशेष अडचन नहीं पड़ सकती ।
 उच्चारणका तो भेद है ही नहीं । केवल आकृति मात्रका
 थोड़ा सा अन्तर है । परन्तु उसमें भी पारस्परिक समता
 इतनी अधिक है कि कठिनाई विशेष नहीं रह जाती ।
 आर्य संस्कृतिकी लिपि तथा इसके पुनीत स्वरोंके संरक्षण-
 का ध्येय भी हिन्दी भाषाके ही भागमें पड़ा था । और
 इसके मित भा उसने राष्ट्रकी एक बहुमूल्य सेवा का है ।
 दैवयोगसे यह दिन भी दूर नहीं दिख पड़ता जब समस्त
 राष्ट्र अपनी प्राचीन एवं सुमन्यवन्त देवनागरी लिपिको
 अपना कर अपने संगठनका मार्ग सुलझा लेगा और तब
 राष्ट्र संगठनका यह सुदर्ण स्वप्न जो हिन्दोंने आजने
 १२०० वर्ष पहले देखा था अल्प समयमें ही वास्तविकता-
 का रूप धारण करना देख पड़ेगा ।

हिन्दी गद्यका विकाश

आजकल जिधर देखिये उधर हो संसार गद्यमय हो रहा है। क्या पूर्व और क्या पश्चात्य ; क्या उत्तर और दक्षिण चारों ओर गद्य ही प्रधान हो रहा है। यद्यपि कवि वृन्द चुप नहीं है तौ भी विकास गद्य हीका अधिक हो रहा है। मनुष्योंपर प्रभाव भी गद्यहीका अधिक है। यह तो कुछ इस युगका ही प्रभाव-स्ता जान पड़ता है। क्योंकि इस युगमें मनुष्योंका जीवन ही प्रायः ऐसा हो गया है कि उसमें कविताके लिये स्थान बहुत कम है। जीवनमें पटले की मधुर सरसताके स्थानपर अब एक प्रकारकी विरसता-सी ला गयी है। यद्यपि उसका घाह रूप कुछ प्रदलताके

परन्तु यह भी एक स्मरण रखनेकी बात है कि लेखन शैलीके प्रचारके पश्चात् भी बहुत समयतक पहलेहीकी प्रधानता रही। इसका मुख्य कारण यही था कि लेखन-शैलीके प्रचारके पश्चात् भी बहुत समयतक यद्येष्ट सामग्रीके अभावके कारण लोगोंको साहित्यके कण्ठ ही करनेमें अधिक सुविधा जान पड़ती थी।

परन्तु ज्यों-ज्यों अभाव मिटते गये त्यों-त्यों गद्यमय साहित्यके अंकुर फूटे। और धीरे-धीरे गद्यका विकास होना प्रारम्भ हो गया और जैसे ही छापनेकी युक्ति मनुष्योंके हाथ आयी तब तो मानो साहित्यमें गद्यका भाग्योदय ही हो गया। बात तो वास्तविक यह है कि मनुष्य स्वभावतः सरलताकी ओर झुकता है। अपने जीवनके प्रत्येक कार्यमें वह निरन्तर सरलतर युक्तियोंकी खोजमें रहता है; और साहित्यमें गद्यका विकास मनुष्यकी सारल्य-प्रियताका ही परिणाम है।

अब यदि हिन्दी साहित्यकी ओर दृष्टि डाली जाय तो उधर भी कुछ ऐसी ही परिस्थिति देख पड़ेगी। वैसे तो सं० १३०० में भी हिन्दी गद्यके कतिपय उदाहरण मिल जाते हैं परन्तु वास्तविक बात तो यह है कि उस

समयमें गद्यका प्रचार नहीं था। उपर्युक्त साहित्यिक सिद्धान्तोंके अनुसार हिन्दी गद्यका लोकप्रारम्भ सं० १८०० से होता है और प्रायः सभी समय भारतमें छापेखानेके प्रचारका है। गद्य साहित्यका वास्तविक विकास भी इसीके पर्याप्तसे प्रारम्भ होता है। परन्तु तीसरी शताब्दीके पहलेके साहित्यकी दशाका निराक्षण करना आवश्यक है। क्योंकि आजके गद्यकी जड़ भी तो उसी प्राचीन गद्यमें ही थी।

हिन्दी गद्यके विकासकी लोज करते समय एक बात देवकर हमें आश्चर्य होगा है कि जहाँसे पहले-पदल पद्यका उद्भव हुआ था वहींसे गद्यका भी उद्भव होता है।

सबसे पहला हिन्दी गद्य का उदाहरण जो हमें मिलता है वह एक मेराटकी सनद है जो सं० १२२६ में लिखी गयी थी। इसकी भाषा बड़ी चन्दके समयकी पूर्वकालीन हिन्दी है। राजपूतानेमें अब भी ऐसी ही भाषा बोली जाती है। इसे देखनेमें तीन बातें प्रत्यक्ष जान पड़ती हैं। एक तो कुछ शब्दोंके रूप बिल्कुल ही संस्कृतकी विभक्ति से युक्त हैं जैसे—‘समर सिंहकी आज्ञासे’ के लिये लिखा है “समरसोजी वचनातु”।

दूसरी बात यह है कि उसकी क्रियाएं विल्कुल ही बाजकलकी खड़ीबोलीकी-सी हैं जैसे 'लाया', 'जावेगा' और 'होवेगा' और इस भाषामें तीसरी बात यह है कि इस समय तक शब्दोंके रूपमें थोड़ा-सा हेरफेर छोड़कर वे प्रायः आज ही कलकी भाषाके शब्द हैं। जैसे 'आचारज' 'डायजे' 'ओपद्' इत्यादि। इस लेखमें एक बाधे 'जनाना' इत्यादिक फारसीके शब्द देखकर कुछ ऐसा अनुमान होता है कि उसका भी भाषापर प्रभाव धीरे-धीरे पड़ने लगा था।

इस सनदकी भाषाके वाक्य-विन्यासको देखकर यह प्रत्यक्ष विदित हो जाता है कि उसकी भाषाका मुकाब आज कलकी हिन्दी अर्थात् खड़ी बोलीकी ओर था। आश्चर्य नहीं यदि छुसरोकी कविताका भाषाने पहले पहल अपना रूप यहीसे लिया हो। क्योंकि खड़ी बोलीका सबसे प्राथमिक रूप कुछ अंशोंमें हमें यहीं देखनेको मिलता है।

इसके उपरान्त लगभग २०० वर्षतकके किसी भी गद्यके उदाहरणका पता हमें नहीं लगता। अब लगभग सं० १४०९ में गोरखनाथजीकी लेखनी द्वारा प्राप्त कुछ थोड़ेसे गद्यका पता चलता है।

चलता। केवल सं० १६०० में फिर स्वामी विठ्ठलनाथजी द्वारा लिखित गद्य मिलता है। यह निस्सन्देह ब्रजभाषा-का गद्य है।

इसकी क्रियाएं तथा अन्य शब्द सभी तो ब्रजभाषाके हैं। और वास्तवमें यहाँसे ब्रजभाषाके गद्यका प्रारम्भ मानना चाहिये।

‘शब्दायमानं कर्तुं है’ अथवा ‘सखी कृं सम्योधन’ ‘वा पटेलके दो बेटा होते और एक स्त्री होती’ इत्यादि प्रयोग बिल्कुल ही ब्रजभाषाके हैं।

इसके उपरान्त लगभग ७५ वर्षोंका यह समय ऐसा आया जिसमें बनेक भक्त लेखकोंके गद्यके उदाहरण मिलते हैं। भाषा सबकी ब्रजभाषा है कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा। परन्तु सं० १६०० के पूर्वके हिन्दी गद्यमें और उसके पश्चात् लगभग ७५ वर्षोंतकके हिन्दी गद्यमें बड़ा अन्तर था। सं० १६०० के पश्चात्वाले हिन्दी गद्यकी सफलें दर्शानेकी तो यह थी कि अब कारक चिन्तोंका प्रयोग अधिक निश्चित रूपसे होने लगा था। परन्तु यह स्मरण रहे कि ब्रजभाषाके गद्यमें कारक चिन्तोंका रूप भी ब्रजभाषा ही का था। यथा -

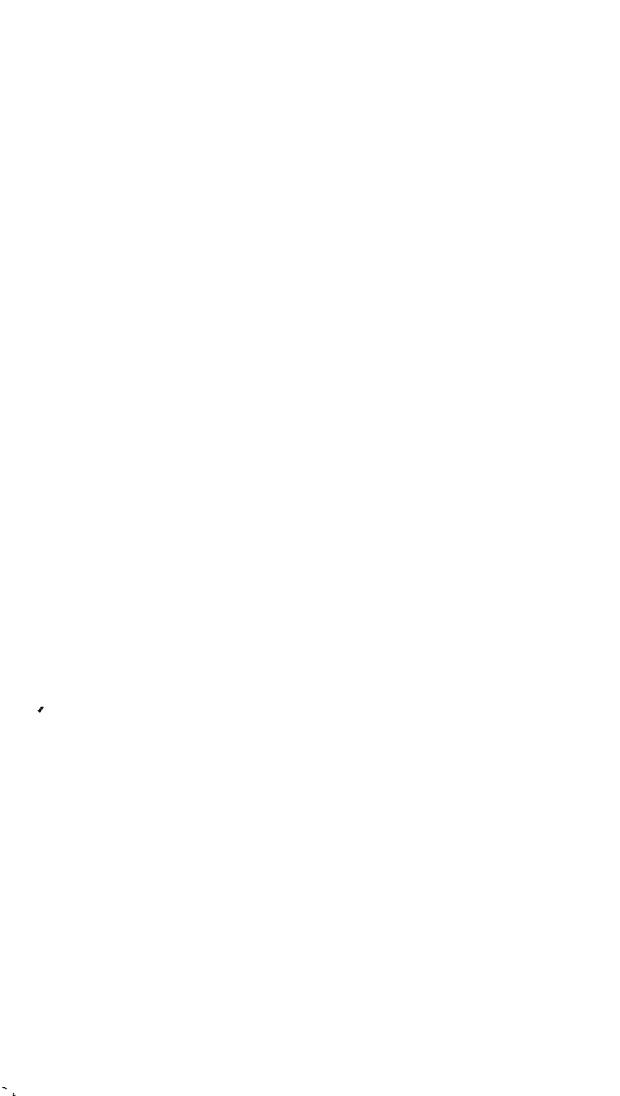
मानी शासनके कारण फारसीका भी प्रभाव स्पष्ट देख पड़ता है। क्योंकि उपर्युक्त वाक्यमें 'इजासो' अरबी शब्दका बहुत ही शुद्ध प्रयोग हुआ है इसी प्रकार 'मजल' फारसी अर्थात् मंजिल शब्द का प्रयोग भी बहुतायतसे होता था।

ब्रजभाषाकी एक विशेषता यह भी थी कि 'कि' के स्थानपर 'जो' प्रयुक्त होता था, यथा ;—

“तब नरहरदासजी कों आश्चर्य भयो जो यह लरिका कहाँते आयो” इत्यादि।

इन उदाहरणोंको देखते हुए यही जान पड़ता है कि सं० १६००-१८०० तक ब्रजभाषाके गद्यका ही अखण्ड राज्य रहा। परन्तु इन ६०० वर्षोंमें हिन्दी गद्यका विशेष विकास न हो सका। संवत् १४०० के पहलेका गद्य तो केवल थोड़ेसे तात्पर्यत्रोंमें ही है। परन्तु उसके पश्चात्का गद्य जो पुस्तकोंमें सम्मिलित हो चुका था इतना अप्राप्त है कि इसके विकासका क्रम निश्चित रूपसे निर्धारित नहीं किया जा सकता।

यहां तक कि गंगभट्ट तथा श्री तुलसीदासकी लेखनी-के थोड़े बहुत अंश जो हमें कहीं कहीं उपलब्ध हो जाते



भी नहीं है। और उसमें तत्सम शब्दों हीकी भरमार है।

इनके पश्चात् सैय्यद 'इंशा अल्ला खा' ने 'रानी केतकी की कहानी' हिन्दी गद्यमें लिखी। इनकी प्रतिज्ञा ठेठ हिन्दी खड़ी बोली लिखनेकी थी। अपनी प्रतिज्ञाके पूर्ण करनेका इन्होंने भरसक प्रयत्न भी किया है और शब्द तो निस्सन्देह विदेशी नहीं आने पाये हैं परन्तु महा-वरे अनेक स्थलों पर विदेशी हैं। गद्यमें अनुप्रास लानेका रंग अरबी और फारसी है और इन महाशयकी भाषामे यह भी यद्येष्ट है। इनके शब्द प्रायः तद्भव हैं। यद्यपि प्रयत्न हिन्दी ही लिखनेका किया गया है तथापि भाषा-का ढांचा बिल्कुल ही फारसी है। यथा 'फलकी मिटाई चक्खे।'।

ऐसी प्रकार परिच्छेदके नाम रखनेका ढंग भी बिल्कुल फारसीसे लिया गया है जैसे, 'आना जोगी महेन्द्र गिरिका' इत्यादि।

इस उदाहरणमे 'महेन्द्र गिरि' को 'महेन्द्रगिरि' लिखना बिल्कुल ही उर्दू पनका पोतप है। "जोगी महेन्द्रगिरिका आना" न कहकर 'आना जोगी महेन्द्र गिरिका' यह उचना भी फारसीपन ही दिखाता है। परन्तु इनका

को छोड़कर प्राचीन समयसे लेकर मध्ययुग तक धार्मिक विषयमें हिन्दी साहित्यमें प्रायः व्रजभाषा ही लिखी जाती थी । और यह नियम पद्यहीमें नहीं बरन गद्यकी रचनामें भी मान्य था ।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि सं० १८०० के उप-रान्त छड़ीबोलाकी ही युग प्रारम्भ हो जाता है, उसीके अनुसार तट्टूलालजीकी भाषामें भी हम देखते हैं कि प्रयत्न छड़ीबोलाकी ही ओर किया गया है परन्तु फिर भी अनेक स्थलोंपर व्रजभाषाकी भल्लक आ ही गयी है । जैसे ये कहते हैं कि "वह मर्णा गलेमें बाध नित बाधे" "बाधा करता था" का जगहपर "बाधे" का प्रयोग व्रज भाषाका है । इसी प्रकार 'सुनाय' और 'जाय', 'मानियो' और 'जानियो' इत्यादिका ये विविध प्रयोग भी व्रज-भाषाके ही हैं । न केवल मुद्रावर्तोंमें ही बरन कभी-कभी शब्दोंमें भी व्रजभाषाकी ही भल्लक आ जाता है जैसे 'निपट' और 'लौटा' ये शब्द व्रजभाषाके हैं यद्यपि इनकी भाषा सदासुन्दरताका ही अपेक्षा अधिक शुद्ध और परि-मार्जित होना थी तथापि अभा शिथिलतासे निरन्तर शब्द न था । उससे अब स्थानपर "तुमसे भी कहते हैं कि इस भाषा 'पन' गुणमें भाषा भी मन जाये "

अब यदि सदल मिश्रजीकी भाषा देखी जाय निस्सन्देह 'लाल' जीकी भाषासे वह अधिक प्रौढ़ ज पड़ती है, परन्तु उसमें कुछ नवीनता भी देख पड़ती है। एक तो उसमें अनेक स्थलोंपर बोलचालके प्रचलित मुहावरोंका प्रयोग है। यद्यपि ऐसे मुहावरों इ'शा अल्ला साहबने भी अपने गद्यमें किये थे परन्तु वे प्रायः उर्दू थे, परन्तु इनके मुहावरों ठेठ हिन्दीके हैं। इसके अतिरिक्त अपने गद्यमें इन्होंने कहीं-कहीं वास्तविक घटनाओंका चित्रण अच्छा किया है। जैसे नरकका वर्णन करते हुए इन्होंने अपनी इस कलाका प्रदर्शन अनेक स्थलोंपर किया है। इनके शब्द प्रायः तत्सम होते थे और इनकी शैली हम एक प्रकारकी प्रौढ़ताका अनुभव करते हैं। परन्तु फिर भी इनकी शैलीमें कहीं-कहीं ब्रजभाषाकी और अनेक स्थलोंपर जैसी अन्य विद्वानोंकी राय है, 'पूर्वोपन' का छाप लगी हुई है। यथा "मुगरोके मारसे भुरकुस होते हैं 'कीड़े कलबलाते हैं', "जौन-जौन कर्म कियेसे वह फल होता है।" इत्यादिक उदाहरणोंमें प्रत्यक्ष है।

यद्यपि अब खड़ीबोलीका युग प्रारम्भ हो चुका है और दिन प्रतिदिन प्रौढ़ता प्राप्त करना जाता था तथापि

‘सत्दार’ इत्यादिक कतिपय लेखक अभी भी ब्रजभाषाके जीर्णोद्धारमें ही लगे थे। परन्तु ऐसे लेखक थे बहुत ही कम।

सं० १६११ में राजा शिवप्रसादजीने गद्यमें कुछ नयी प्रेरणालियोंकी प्रयोजना की। इनका कारण कुछकुछ राजनीतिले सम्बन्ध रखता था। वे यह चाहते थे कि देशभरमें एक लिपि और एक ही भाषा हो जाय। परन्तु उनकी धारणा यह थी कि जब तक हिन्दीमें उर्दूका यथेष्ट सम्मिश्रण न होगा तबतक उसे मुसलमान लोग ग्रहण ही कैसे करेगे। इसलिये वे चाहते थे कि हिन्दीमें उर्दू मिला दी जाय और तब उर्दूकी स्वतन्त्र स्थिति रह ही न सकेगी। अतः देशभरमें हिन्दी ही केवल रह जायगी। अपनी इसी धारणाके अनुसार उन्होंने उर्दू मिश्रित हिन्दी गद्य लिखना प्रारम्भ किया था। यदि उनके गद्यका भली भांति परिशीलन किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वे अनिश्रित गद्य भी अच्छा लिख सकते थे। परन्तु बरनों उपरि-युक्त धारणाके वश उन्हें मिश्रित गद्य बाध्य होकर लिखना पड़ता था। इनका शैल उर्दू शब्दोंके होते हुए भी एकदम हिन्दी ही होता था। दरन उसके विषयमें तो दशतक

जाना था तौभी उल्लेखनीय ऐसी बिली भी नयी
प्रणालीकी आयोजना नहीं हुई। फेब्रुअरी इतना ही चलना
पड़ेगा कि राजा साहयकी भाषाकी अपेक्षा ग्यामीजीकी
भाषा कुछ अधिक परिमार्जित थी।

इस उपरोक्त १२५ वर्षके युगके उपगन्त सं० १६२६ में
अब वर्तमान युग प्रारम्भ होता है। यहाँसे भाषाका रूप-
रङ्ग झिलझिल ही कुछ और हो जाता है। क्या शब्द और
व्याकरण दोनोहीमें एक विशेष सन्तुष्टि-ता जान पड़ता
है। यहाँसे कुछ कुछ ऐसा जान पड़ने लगता है कि सब
हिन्दी शब्द समझको गलतरे साध-साध जीवनों की हँसने
भाग ले रहा है। दिन प्रतिदिन इसने अधिक सजीवता एक
पहुँचा जाती जाती थी। यह सन्तुष्टि सरलता गरी की इस
गिणत हुआ परन्तु इसने हिन्दी भाषाकी विशेषता को पड़े
थे। तबसे पहला ध्यान तो यह था कि सब देशकी वस्तु-
की नीचे नीचेका हुआ हुआ भाषा का कथि-हो चला था
इस नीचे भाषा का जो है वह भाषाका भाषा-भाषा मनु-
ष्यो-सं भाषा प्रभाव सहित-ता जाना। इसने भाषा
पुनरा ध्यान पर हुआ कि सब देश की शिक्षा-प्रसार का
कार्य और पर रहा था। शिक्षा-प्रसार का कार्य हुआ

इनके पश्चात् पं० प्रतापनारायण मिश्र एवं रमाशंकर व्यास प्रभृति लेखकोंने भी इन्हींका अनुकरण किया। परन्तु ये अनुयाई उस सफलताको न पा सके।

विशेष कर पं० प्रतापनारायणजीके गद्यमें कहीं कहीं पूर्वी देहातीपनकी झलक बहुत अधिक मिलती है। यद्यपि कहीं कहीं उससे सरसता अवश्य बढ़ जाती है तौभी यह विधि सराहनीय नहीं है। इसके अतिरिक्त इनकी शैलीमें कुछ कुछ अक्खड़पनकी सी यूँ आती है इसे “वैसवारापन” भी कह सकते हैं। क्योंकि वैसवारेके लेखकोंमें चाहे वे कवि हों अथवा गद्य लेखक परन्तु उपर्युक्त बात उनमें अवश्य ही होती है।

अब इसके उपरान्त एक दूसरा ढंग जो गद्यमें चल निकला था वह नाटक इत्यादि लिखनेका नहीं था बरन नाटक इत्यादिक पर लिखनेका था। परन्तु इससे तात्पर्य यह नहीं है कि समालोचना लिखी जाती थी बरन इससे केवल तात्पर्य इतना ही है कि इस बीच कुछ गद्य लेखक इस ओर भी प्रवृत्त हुए थे कि नाटककी पंजा इत्यादिके विषयमें भी कुछ लिखे।

पं० बालकृष्ण भट्ट और पुरोहित गोपीनाथ इत्यादिक

100

प्रचार भी हम देखते हैं। इसके लेखक हैं मिश्रबन्धु, लाला भगवानदीन, और पं० रामनरेशजी त्रिपाठी। ये लोग कुछ वंशोत्क राजा शिवप्रसादकी शैलीका अनुकरण करते हैं। इनकी धारणा भी यही है कि हिन्दीमें किसी भी अन्य भाषाके शब्दोंका समावेश कुछ अनुचित नहीं। परन्तु उक्त राजा साहयमें तथा इनमें भेद केवल इतना ही है कि वे अन्य भाषाके शब्दोंको 'तत्सम' रूपमें प्रयुक्त करते थे परन्तु आज कल इन विद्वानोंकी अनुमति यह है कि अन्य भाषाके प्रचलित शब्दोंको 'तदुभव' रूपमें ग्रहण करना चाहिये।' अर्थात् यदि 'जरा' शब्दका प्रयोग हमें हिन्दीमें करना हो तो 'जरा' लिखना चाहिये। इत्यादि।

तीसरी प्रचलित शैली है 'ललित साहित्य' अर्थात् (Light Literature) की। यह रूप उसे उपन्यास एवं गल्प लेखकों द्वारा मिला है। यह गद्य गम्भीर नहीं होता और वास्तवमें होना भा नहीं चाहिये। गम्भीर गद्य और इसमें सयसं दडा अन्तर यदा है कि यह प्रायः साधारण दोलचालकी भाषामें लिखा जाता है। इसके शब्द और मुहावरें सभी साधारण दोलचालके होते हैं। और इसमें गरिष्ठता नामकी भा नहीं होता।

रहे हैं, और नवीन उत्साह और उमंगोंसे भरे हुए लेखकों-
की संख्या प्रति दिन बढ़ती ही जाती है। और किसी भी
साहित्यके समुज्ज्वल भविष्यकी यही एक मात्र आशा है।

ज्ञान पडता है। भाषावा व्याकरण उर्ध्वका त्यों होते
 हुए भी शैली, मात्र और विषयोंमें बड़ा अन्तर पड़ गया।
 दिन प्रतिदिन उन्हें एक प्रकारकी सर्जीवता एवं पटुता
 आने लगी। इन धृष्टियों देखकर सहसा कुछ ऐसा
 भाव आने लगा कि हिन्दी गद्य अब समयकी रुचिसे
 स्वाध स्वाध जीवन्तकी दौड़ने भाग ले रहा है। टीका टीका-
 के प्रचलन पत्तोंके नादित्वसे इस एक प्रकारका सिधित
 प्रभाव अब नग्नता-सी पाने है। राजनीतिष पद

नाटक न थे वरन अब उनमें से कुछ तो उच्च-
टिके थे ।

इस समयके नाटकोंके विषय एवं भावोंकी नवीनता-
होते हुए भी शैली संस्कृतकी ही थी वरन कुछ नाटकों
तो आधार ही संस्कृतके नाटक थे । अभी नाटकोंमें
मालाका प्रवेश नहीं हुआ था वरन प्रायः वे समाज बधवा
शके सुधारके ही निमित्त लिखे जाते थे । बा० हरिश्चन्द्र
के नाटकोंमें तो पग-पगपर यही भाव देख पड़ते हैं ।

इसी समय बा० देवकीनन्दन खत्रीने उपन्यासोंकी
सृष्टि करना भी प्रारम्भ कर दिया था । परन्तु इनके
उपन्यासोंका उद्देश्य देश बधवा समाज सुधार न था ।
उनकी कथाएँ बड़ी ही रोचक एवं वैचित्र्यपूर्ण थीं ।
रेणुकारीकी कला दिखाना ही उनका प्रधान उद्देश्य था ।
इस जागृतिके समयमें ऐसे उपन्यासोंकी सृष्टिका बड़ा
कारण हो सकता है यह प्रश्न बड़े ही महत्त्वका है ।
वास्तवमें उपन्यासोंका सृष्टि उर्दू साहित्यमें हिन्दीसे
पहले हुई थी और उर्दू के 'नायिलो' का अधिक भड़काला
पार्श्व उनके कथा वैचित्र्यमें आया था । न केवल 'नायिलो'
में ही वरन उर्दू साहित्यके प्रायः सभी बगों में "वैचित्र्य"

के कारण दिन प्रतिदिन लोगों का ध्यान हिन्दी की ओर
 आकर्षित होता जाता था। जैसा ऊपर कहा जा चुका है
 अंग्रेजी पढ़े-लिखे विद्वानों का ध्यान भी अब धीरे-धीरे इस-
 की ओर अधिक आकर्षित होने लगा था। इन लोगों का,
 जिन्होंने अन्य साहित्यों में अगाध रसों के ढेर देख लिये
 थे, उस समय के वर्तमान हिन्दी साहित्य से सन्तोष न हो
 सका। अतः अब दिनोदिन हिन्दी के विविध अङ्गों की
 पूर्ति की जाने लगी। क्योंकि यह संसार का नियम है
 कि मनुष्य का तात्त्विक असन्तोष ही उसे कार्य में नियुक्त
 करता है और इसी प्रकार गुण ज्ञान का अन्वेषण होता
 है। पहली हलचलों का ही एक फल यह भी हुआ कि अब
 लोग विदेश भी जाने लगे तथा विविध संस्थाओं के द्वारा
 आत्म-सङ्गठनों की भी सृजना लगी। इस अब धीरे-धीरे अन्य
 विषयक संस्थाओं के साथ ही साथ हिन्दी की उन्नति के
 लिये भी नागरी प्रचारिणी शालादिक संस्थाएँ स्थापित
 हुईं। सप्ताहिक नवॉन पत्र एवं पत्रिकाएँ जैसे 'सरस्वती'
 शालादिक निकाली जाने लगीं। तथा अन्य साहित्यों से
 ग्रन्थरत्न चुनचुनकर हिन्दी में अनुवादित भी होने लगे
 अनुवाद सरस परदे कुछ दङ्गला साहित्य के सामा

लगे। और इस प्रकार अनुवादित ग्रन्थोंकी संख्या अब
दिनोंदिन बहुत बढ़ने लगी।

अतः वर्तमान कालका यह द्वितीय पार्श्व जिसकी
हृदयम सन १९१६ तक मानने हैं इन्हीं उपर्युक्त उद्योगों-
से परिपूर्ण है। इस समय तरह-तरहके उपन्यास तथा
नाटक, बंगला और मराठीसे अनुवादित किये जाने लगे।
शांतिकुटीर, छत्रसाल, मोहिनी, सांखकी किरकिरी
इत्यादिक इसी युगके फल थे। परन्तु इस प्रकारके अग-
णित उपन्यासोंसे भी नाटक पढ़नेवाले तथा खेलनेवालोंका
संतोष न हो सका इसलिये उन लोगोंने अब द्विजेन्द्रलाल
राय एवं शान्तिभूषण सेन जैसे नाटककारोंके नाटकोंका
अनुवाद करना प्रारम्भ कर दिया। अतः अनुवादित
नाटकोंकी संख्या भी खूब बढ़ी। इस समयके
साहित्यकी गति देखनेसे एक बात अवश्य प्रतीत होने
लगती है कि धीरे धीरे संस्कृतकी ओरसे लोगोंकी रुचि
हटकर अब बङ्गला, मराठी, गुजराती एवं अंग्रेजीकी ओर
बधिक होती जाती थी परन्तु उद्देश्य प्रायः यही होता
था कि उस साहित्यको निबोड़कर हिन्दीमें सन्निहत कर
लेना चाहिये।

ऊपर एक स्थलपर नागरी प्रचारिणी सभा इत्यादिक संस्थाओंकी स्थापनाका वर्णन भी किया गया है। इन संस्थाओंके द्वारा भी साहित्यकी वृद्धिमें बड़ी सहायता मिली। एक सबसे बड़ा कार्य जो इनके द्वारा सम्पादित हो सका वह था, साहित्यिक, ऐतिहासिक, एवं पुरातत्व विषयक खोजका। इस विभागका कार्य किसी भी साहित्यकी दृढ़ वृद्धिके लिये कितने महत्वका है यह विद्वानों से छिपा नहीं। रायबहादुर पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा प्रभृति विद्वानोंका इस ओर कार्य बड़ा ही सराहनीय है।

वर्तमान कालके इसी पार्श्वमें सन १९१४ का महायुद्ध प्रारम्भ हो गया। अन्य दृष्टिसे यह घटना चाहे बड़े महत्वकी भले हो परन्तु हिन्दी गद्य साहित्यपर इसका कोई विशेष प्रभाव न पड़ सका सिवाय इसके कि देशमें बहुतसे साप्ताहिक एवं मासिक समाचार पत्र निकलने लगे और कोई विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता।

अब यदि इस समयकी समस्त शैलियोंपर हम एक ओरसे दृष्टि डालें तो हमें बड़ी सरलतासे यह देख पड़ने लगेगा कि लेखकोंकी शैली विषयक रुचि अभी कुछ

श्रीवास्तव इत्यादि विद्वानोंने विज्ञान, कृषि, राजनीति, इत्यादि अनेक आवश्यक अंगोंको परिपुष्ट करनेका प्रयत्न किया है तथा रात दिन कर रहे हैं परन्तु फिर भी सारा सामग्रीको देखकर यही कहना पड़ता है कि अभी तो समयका प्रारम्भिक काल है। यद्यपि ये सभी प्रयत्न सराहनीय हैं तथापि इनसे सन्तोष नहीं किया जा सकता। अंग्रेजी इत्यादिक अन्य साहित्य जिससे हिन्दीको शीघ्र ही टक्कर लेना है उनमें यह सब सामग्री इतनी अधिक भरी पड़ी है कि उसके सामने हिन्दीका यह सब सामान कुछ जंचता ही नहीं। लेकिन फिर भी निराश होनेका कोई कारण नहीं। क्योंकि चारों ओर दृष्टि फेरते हुए यह तो प्रेत्यक्ष हो जाता है कि अब साहित्यके प्रायः सभी अंगोंका सूत्र-पात अवश्य हो गया है तथा विद्वानोंको अपने अपने विषयकी पूर्ति करनेकी धुन-सी लग गयी है फिर भला साहित्यके बढ़नेमें एवं परिपुष्ट होनेमें शंका ही क्या हो सकता है? और अभी दिन ही कै हुए हैं? यदि इतने थोड़े समयमें इतनी वृद्धि हो सकती थी तो कुछ और समयमें सन्तोषजनक वृद्धि हो जाना कोई आश्चर्यका बात नहीं।

कसौटी जो कुछ भी कही जा सकती है वह केवल यही है कि नाटक अभिनय योग्य होना चाहिये। क्योंकि नाटक दृश्यकान्य है अतः उसकी 'अभिनय-योग्यता' अनिवार्य है।

नाटक अथवा उपन्यासोंकी अपेक्षा हम देखते हैं कि हिन्दीमें गल्पोंकी शाखा सबसे अधिक पुष्ट है। सबसे पहली बात तो यह है कि हिन्दीकी गल्पें अधिकतर मौलिक हैं। तथा उनमें प्रौढ़ता और पटुता भी अधिक है। आजकलके गल्प लेखकोंमें प्रेमचन्द, कोशिक, सुदर्शन, और हृदयेश यही प्रमुख हैं। इन्होंने अन्यत्र उपन्यास और नाटक भी लिखे हैं। इन नाटक और उपन्यासोंकी तुलना इनकी गल्पोंसे करनेपर हमें यह स्पष्ट ज्ञात होता हो जाता है कि उनकी अपेक्षा अपनी गल्पोंके लिखनेमें ये लोग कहीं अधिक सिद्धहस्त हैं। चरित्र चित्रण, भाषा और कथानक सभी कुछ इनकी गल्पोंमें अधिक जंघते हैं। बात तो यह है कि उपन्यास अथवा नाटककी अपेक्षा गल्प लिखनेमें रचना चतुर्यकी कहीं कम आवश्यकता पड़ती है। इन सारी बातोंको देखकर हमें कुछ ऐसा ज्ञान पड़ता है कि कदाचित् हमारे लेखकों-

हित्यिक परख प्रायः हो ही नहीं पाती थी। परन्तु इस प्रकारके अध्ययनने साहित्यके लिये कलाकी एक नयी कत्तीटी तैयार कर दी। अब पं० रामचन्द्र शुक्ल, पं० कृष्णविहारी मिश्र इत्यादिक कुछ विद्वान साहित्यको इसी कत्तीटीपर कत्तके देखने लगे और साथ ही साथ वियोगीहरि, चतुरसेन शास्त्री इत्यादिक विद्वानोंने 'तरंगिणी' और 'अन्तस्थल' रचकर गद्यकाव्योंके मिस्र गद्य-कलाका निर्माण किया। कलाकी यह सत्ता इन्हीं कति-पय ग्रन्थोंमें ही समाप्त नहीं हो जाती बरन नाटक, उपन्यास गल्प और निबन्धो तकमें वह दूँढ़ी जाती है। यद्यपि यह सर्वत्र सम्भव नहीं तथापि इसका आदर बाज-कल पूर्य बढ़ रहा है। क्योंकि लेखन शैली तकमें इसकी उपासनाकी जाती है।

दिन प्रति दिन विकास हो होता जा रहा है। गद्यके प्रायः सभी अंग धीरे धीरे पुष्टताको प्राप्त हो रहे हैं। और सबसे अधिक विशेषता तो यह है कि स्थानाविक-ताकी हा और लेखकोंका रचि धटता जाती है। और वास्तवमें यह जीवन और जागृतिसे चिन्ह है।



जाती हो और सरल हो । इस बीच जब हिन्दीकी क्रांति मन्द पड़ गयी थी उस समय उर्दूका प्रचार चारों ओर बड़े वेगसे हो रहा था । परन्तु जब राष्ट्रभाषाका प्रश्न उठा तब खड़ी बोलीमें ही सबसे अधिक सुविधा जान पड़ी क्योंकि उर्दूसे समानता होनेके कारण उर्दू वालोंको भी इसके समझनेमें कठिनाई नहीं जान पड़ती । व्रजभाषा जो गद्यके अंगसे न्यून है उसका प्रचार देशके थोड़ेसे ही हिस्से में है । इसके अतिरिक्त उसमें शब्दोंका उच्चारण कुछ ऐसे विचित्र प्रकारसे किया जाता है कि सुननेमें चाहे वह प्रिय भले ही लगे परन्तु उसका प्रचलित होना अत्यन्त कठिन है । आजकल खड़ी बोली ही अधिकतर बोल चाल की तथा साहित्यकी भाषा होती जाती है । इसलिये आजकलके कवियोंको इसीमें कविता करना अधिक सुविधाजनक है । यद्यपि यह मानना होगा कि खड़ी बोलीकी कवितामें व्रजभाषाका-सा शब्द माधुर्य नहीं आने पाता परन्तु उसका गाम्भीर्य भी अनोखा ही होता है ।

दूसरी विभिन्नता है कविताके विषयोंकी । पहले समयमें कविताके विषय थे ईश्वर-भक्ति, ज्ञान, वैराग्य; विरह, प्रेम, शृङ्गार, नायिका-भेद और नख-शिख वर्णन

इत्यादि। इनके निमित्त थे राधिका और कृष्ण। इसी
 रात्रिका प्रभाव था कि उस समय रीति-ग्रन्थ अधिक लिखे
 जाते थे। पहले देश-भक्ति अथवा समाज-सुधारकी दृष्टि
 से कविता प्रायः नहीं लिखी जाती थी। परन्तु आजकालके
 विषय तो अधिकतर यही हैं। नायिका-भेद और नय-
 शिष्टका युग नहीं है। विरह और प्रेम भी और ही ढङ्गसे
 लिखा जाता है। अब तो फुटकर विषयोपर जैसे पुष्प,
 पद्मान्त-रत्न, अथवा विदा ऐसे-ऐसे विषयोपर ही कविता
 लिखनेकी प्रथा अधिक चल निकली है। रामायण या
 महाभारत-या महा-काव्य इस युगमें कोई भी नहीं लिखा
 गया है। किन्तु तो भी पञ्चात्मका छोटी-छोटी पद्यानिजा
 देवदेवी अथवा मित जाते हैं। बर्षा और अन्य भर्षोंका
 तायादाद जो मध्य युगमें सुसजा हो गया था। अब फिर
 जीवित बिना जा रहा है परन्तु उसका रूप अब कुछ और
 है। पहलेकी हिन्दी-काव्यनामे १८५५ वर्षीय 'शोक गान'
 का सर्वप्रथम उदाहरण था। उस समय यद्यपि परम्परा रखने
 का नाम रखता था किन्तु वह नाम होता था परन्तु इस प्रकार
 के काव्य 'काव्य' प्रथा ही था ही नहीं। आधुनिक
 युग के कवि इस तरह के प्रयोग किया है। 'निराशा'
 १९५५ ई. में इसका उदाहरण है।

कुछ तो उनमेंसे अंग्रेजीके 'सोनेट' (Sonnets) और 'ओड्स' (Odes) तथा उर्दूकी गजलोंके ढंगके हैं। इसमें भी बहुत कुछ पश्चात्य साहित्यकी छाया है। परन्तु इसमें दोष ही क्या है ?

संसारके साहित्यमें स्थान पानेके लिये निस्सन्देह मौलिकताकी हो शरण लेनी पड़ती है परन्तु प्रारम्भमें अन्य साहित्योंका सहारा लेना भी कुछ अनुचित नहीं। अंगरेजी साहित्य आज इतना बृद्ध न होता यदि 'वायट' (Wyatt) और 'सरे' (Surrey) 'वर्डस्वर्थ' (Wordsworth) और 'कोलरिज' (Coleridge) संसारकी सभी सामयिक प्रथाओं तथा साहित्यिक कौशलोंके अपनानेके लिये हृदय न खोल देते। इसी प्रकार राममोहनराय मधुसूदन, और रवीन्द्रनाथ टैगोर भी बंगला-साहित्यको आज इतना ऊँचा न उठा सकते यदि उनकी उक्ति विश्व-भारती न होती।

चौथी विभिन्नता है अलंकार विषयक रुचि में। प्रत्येक साहित्यमें अलंकारों का स्थान एकसा है कि यदि ये स्वाभाविक होते हैं तो भले मालूम होते हैं और यदि खीच खाँचकर लाये जाते हैं तो अरुचि उत्पन्न कर देते

इस विविध विभिन्नताओंको देखते हुए यही जान पड़ता है कि पहलेकी और अबकी कवितामें बड़ा अन्तर पड़ गया है। परन्तु इस आधुनिक युगमें भी तो कविताकी धारा एक ही ओरको बढ़ती हुई नहीं देख पड़ती। उसका वेग सर्वत्र एक-सा नहीं है। पाठ भी कहीं अधिक चौड़ा है तो कहीं बिल्कुल संकरा। ये विभिन्नताएँ कान्तिवारी भले ही हों परन्तु युग परिवर्तनकारी नहीं कही जा सकती। वरन् ये तो भिन्न-भिन्न रीतियाँ (Style or Types) हैं, जिनका होना स्वाभाविक है। क्योंकि नये युगको प्रारम्भ हुए अभी समय ही पिलना हुआ है। अभी तो आधुनिक कविताकी धारा अपना मार्ग भी निर्दिष्ट नहीं कर सकी है।

इस युगमें दादू हरिचन्द्रके समयसे अदनक न जाने पितने रुक़ि हो गये हैं। सर्वाका परिचय इस छोटे लेखमें असंभव है। अतः य उचित यही जान पड़ता है कि पृथक् पृथक् रीतियाँ (Types) की ही तेज़र आधुनिक कविताका प्रारम्भ करने दिया जाय।

आधुनिक युगके आरंभ पर दादू हरिचन्द्र के कविता से यह स्पष्ट हो जाता है कि नया, विभिन्न और

का-सा ही होता था परन्तु वर्णन-शैली अनोखी थी जैसे प्रेम-प्रवाहमें घे लिख जाते हैं कि—

भरित नेह नव नीर नित, चरसत सुरस अधोर ।

जयति अपूरय घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर ॥

शृंगारमें भी वियोग-वर्णन इनकी कवितामें अधिक है । कहीं-कहीं तो वह बड़ा ही मनोहारी है । जैसे—

प्यारी चिन कटत न कारी रैन ॥

जिय तड़फड़ात सय जरत गात, टप-टप टपकत दुख भरे नैन॥

सजि विरह सैन यह जगत जैन, मारत मरोरि मोहि पापी मैन॥

इनकी प्रीति 'नयनों' पर कुछ अधिक थी क्योंकि इनके पदोंमें अनेक स्थलोंपर नयनोंका ही वर्णन है और उनमें भी अनेकका तो भाव भी बहुत कुछ एक ही सा है । शांत रसका वर्णन भी इन्होंने खूब किया है परन्तु उसमें कोई विशेषता नहीं देख पड़ती । करुण-रसका वर्णन इनकी प्रखर कवित्व-शक्तिका पूर्ण द्योतक है । अपने विविध पदोंमें इन्होंने करुणाकी मूर्तिसी खड़ी कर दी है । जितनी सफलता इन्हें इस रसके वर्णनमें मिली है उतनी कदा'चन किसी भी अन्य रसमें नहीं मिली । शवका दाह वर्णन करते समय लिखते हैं—

प्राणहु ते बढ़ि जा कहं चाहत,
तो कहं आजु सबै मिलि दाहत ।

फूल बोक ह जिन न सम्हारे,
तिन पै बोक काठ बहु डारें ।

सिर पीड़ा जिनकी नहि हेरी,
करत कपाल-क्रिया तिन केरी ॥

मृत्युके समय अपने बिछुड़े हुए मित्रसे कहते हैं कि--

“आजु लो जो न मिले तो कहा,
हमती तुम्हरे सब भांति कहावैं ।
मेरो उराहनो है कछु नाहिं
सबै फल आपने भाग को पावैं ।
जो हरिचद भई सो भई,
अब प्राण चलो चहैं तासों सुनावैं ।
प्यारे जू! है जग की यह रीति,
विदाके समय सब कण्ठ लगावैं ॥”

वीभत्स-रसके वर्णनमें इनका मर्घट-वर्णन प्रसिद्ध है ।
हास्यरस इन्होंने जहां कहीं भी लिखा है समाज और राज-
कर्मचारियोंके सम्बन्धमें प्रायः व्यंग्यकी ही रीतिसे ।
‘चूरनवाले का लटका’ इसका अच्छा उदाहरण है ।

मुखच्छवी श्री रघुनाथ की बहो
हमें सदा सुन्दर मंगलीय हो ॥

पं० प्रतापनारायण मिश्र भी इन्होंने समकालीन कवियोंमें थे। व्यंगकी रीतिसे इन्होंने हास्यरस अधिक लिखा है। कहीं-कहीं ग्रामीण भाषाका पुट इनकी कविताके हास्यरसको द्विगुण फर देता है। इनकी 'बुढ़ापा' शीर्षक कविता बड़ी प्रसिद्ध है। पं० अम्बिकादत्त व्यास, लाला सीताराम इत्यादिक सभी समकालीन हैं, परन्तु इनकी कवितानें कुछ ऐसी विशेषता नहीं जिसका प्रभाव नवयुगकी कवितापर पड़ा हो।

बा० हरिश्चन्द्रके पश्चात् संवत् १६१६ में दो हिन्दी कवियोंका जन्म हुआ जिनके द्वारा आधुनिक हिन्दी-कविताके संसारमें नयी-नयी प्रधाओंका सन्निवेश हुआ। उनमें से एक थे पंडित नाथूरामजी शंकर शर्मा और दूसरे थे पं० श्रीधरजी पाठक। शंकरजीने ठेठ खड़ीबोली ही में कविता लिखनेकी नवीन शैलीकी स्थापना की। इन्होंने कविताएँ प्रायः समाज-सुधारकी ही दृष्टिसे लिखी हैं। इसलिये उनमेंसे अधिकांश व्यंग्योक्तियाँ हैं। भाषाके विषयमें इनकी धारणा थी कि खड़ीबोली तथा ब्रजभाषाका

होंठोंके लिये आपने लिखा है—

बम्बुरमें एक यहाँ दौजके सुधाकर दो
छोड़ें वसुधा पै सुधा मन्द मुसकान की ।
बाज इन ओंठोका सुरंगी रस पानकर,
कविता रसीली भई शंकर सुजान की ॥

इनकी कवितामें अश्लीलता, ग्राम्यदोष तथा कटो-
कियाँ बहुत हैं । वहाँ-कहाँ तो ठेठ ग्रामीण भाषामें ही
इन्होंने पदके पद रच डाले हैं ।

जित समय इनकी कविताकी प्रमा चारों ओर फैल
रही थी उसी समय श्रीधर पाठकजीने भी अपनी नवीन
शैलीकी स्थापनाकी । 'धनचिन्तय' लिखकर उन्होंने बंग-
रेजीकी (लिखित) की सी कविताका प्रचार किया ।
उनकी सूझ भी अनोखी हुआ करती थी । 'काश्मीर
~n लिखा था—

हैं। ठोंके लिये आपने लिखा है—

अम्बरमें एक यहाँ दौड़के सुधाकर दो
छोड़े यमुधा पै सुधा मन्द मुक्कान की ।
आज इन ओंठोका मुरंगी रस पानकर,
पायिता रसीली भई शंकर मुजान की ॥

इनकी पायितामें अद्भुतलता, ग्राम्यदोष तथा पाटो-
नियम बहुत हैं। पल्लो-पल्लो तो ठेठ ग्रामीण भाषामें ही
इन्होंने पदके पद रच जाते हैं।

जित समय इनकी पायितायी प्रभा पानें ओर पौत
रही थी उसी समय धोधर पाठकर्जाने भी अपनी नदीन
श्रीतीरी स्थापनाकी। 'यनदिनय' लिखाकर उन्होंने धन-
रंजीयी (लिखित) की री पायिताया प्रसार दिया।
इसकी सुझ भी अनोखा हुआ करता थी। 'काश्मीर
सुप्ता' में इन्होंने लिखा था—

"धौ बट जाए भरी विम्व-झालीगन-पैती
देततने सुन पन शीतवे लिखर पैती ।
पुरर प्रहतिरी बिधी उदे डोयन रस धार्यी ।
प्रेम ऐति रस ऐति परन रग-भरत लज्जारी ।
प्रहति यहाँ पद्यान्त ऐति निज रूप ह दारिनी ।

बैठ कर मैं इस पार

शून्य बुदबुदों से सुनती हूँ

जीवन का संगीत,

तुम्हारा मौन निमंत्रण प्रीत;

विश्वका अंतिम दृश्य पुनीत ॥

इनके छायावादकी तुलना यदि प्रसादजीसे की जाय तो इसमें सन्देह नहीं कि इन्हें उनसे अधिक सरलता मिली है। इसका कारण एक तो यह है कि इनकी भाषा प्रसादजीकी भाषासे अधिक सरल होती है। इसके अतिरिक्त इनकी कल्पना-शक्ति भी उनसे अधिक प्रौढ़ जान पड़ती है। परन्तु इस छायावाद और कबीर तथा रैदासके छायावादमें बड़ा अन्तर है। पन्तजीकी शैलीकी एक विशेषता यह है कि इन्होंने हिन्दी-कवितामें एक ऐसी शब्दावलीका प्रचार कर दिया है जिससे इनकी कविता में एक अनोखा माधुर्य आ गया है जो प्रायः खर्डीशैलीकी कवितामें नहीं देख पड़ता था। उनमेंसे कुछ शब्द तो बड़े ही गम्भीर अर्थवाले होते हैं परन्तु उनमें सरलता अद्भुत भरा होता है। वास्तविक इनका यह नवीन परन्तु मधुर शब्दावली अत्यन्त प्रचलित होता जा रहा है। लेकिन यद्य

से बहुत भिन्न है। वैसे तो इसका प्रथम श्रोत अंगरेजी-साहित्य है जहाँसे यह बंगला-साहित्यमें आया और इसकी कुछ-कुछ छाया हिन्दीके आधुनिक छायावादमें भी देख पड़ी। परन्तु तुलनात्मक अध्ययन करनेसे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि हमारा आज कलका छायावाद हमारे कवियोंकी स्वाधीन उपज है और उनको पल्पना उनकी भाव-व्यंजना, उनका कौशल पूर्ण रूपसे उन्हींका है। बेचल घोड़ीसी समानता यह नहीं सिद्ध कर सकती कि यह कहीं अन्यत्रसे लिया गया है।

इस ओर आधुनिक कवियोंकी इतनी अधिक रुचि होने हुए भी यह नहीं कहा जा सकेगा कि इस युगमें शृङ्गारमयी कविताका अभाव है। आधुनिक समयमें उसने भी कई रूप धारण किये हैं।

इसका पहला रूप तो यह था जो डा० हरिवन्दने 'यहि भाखै पतिव्रत ताखै धरी' कह कर आरम्भ किया था। यह बेचल कामवासनाकी हा शृङ्गार रसका विषय माननेवाले मध्यकालीन कवियोंके भावोका हा प्रतिच्छाया थी। कुछ विद्वानोंने मध्ययुगका इस कुर'बका कारण इस भाँति बतलाया है कि "बारवनिताओंके पिताम-

दिया है। कृष्ण और राधिकाके बलौकिक प्रेमको लौकिक बनाकर इन्होंने इसे अनुकरणीय कर दिया है। इसी प्रकार 'साकेत' की उर्मिला और 'यशोधरा' की यशोधरा आधुनिक काव्य-साहित्यकी अनोखी मौलिक विभूतियां हैं। इस समय तक शृंगारका आदर्श भारतीय ही है। पाश्चात्यकी छाया नहीं देख पड़ती। परन्तु बागे चलकर यह रूप शीघ्र ही बदलता देख पड़ता है।

बव प्रेम एक विचित्र रूप धारण करता देख पड़ता है। उसमें उसका पहचानना भी कठिन हो जायगा। ऐसा जान पड़ने लगता है कि जैसे संतारते प्रेमका अस्तित्व ही उठ रहा हो। इसका क्या कारण है कि बाज-कलके नवयुवक कवियोंको बव पदम्यके नीचे कटीले कजरारे नयनोंका देखना कम आता है? बाज-कलके प्रेमका न तो वह आदर्श ही रह गया है जिसपर सूर और तुलसी मुग्ध हुए थे और न वह विलास-विभ्रम जो पार्थिव ऐश्वर्यका बलंकार था। वास्तवमें प्रेमका सच्चा दर्शन करनेके लिये कविको पदले स्वयं प्रेमी बनना अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु प्रेमका अनुभव करना सरल नहीं। बाजकलके नये कवियोंने प्रेमका राग अनोखे ही

ही कर दी—

World start and tremble under her feet
And blossom in purple and red.

हिन्दी-कवितामें भी आजकल यही लहर बढ़ रही है। आजकलके कवियोंमें कोई तो शैलीकी ऊँची कल्पनाओं पर मोहित है तो कोई कीट्स (Keats) के मृदुल तथा ललित भावोंपर लट्टू है, परन्तु प्रेमका वह सच्चा आदर्श जो कोलरिज (Coleridge) ने अपनी कवितामें प्रकट किया था बहुत ही कम देख पड़ता है :—

All thoughts, all passions, all delights,
Whatever stirs the mortal frame
Are all but ministerials of love
And feel the sacred flame.

शृंगार-रसकी कविताकी इस न्यूनताके लिये आज-कलके कवि ही सर्वथा दोषी नहीं हैं क्योंकि आजकल हमारा देश पराधीन है। ऐसी स्थिति करुणारस लिखनेके लिये अधिक उपयुक्त हो सकती है। आजतक कोई भी पराधीन देश शृंगाररसकी अच्छी कविता नहीं लिख सका क्योंकि पराधीन अवस्थामें हृदयमें नवीन स्वच्छन्द

विरह भुदंगम तन डस्ता, मंत्र न लागै कोय ॥
 नाम वियोगी ना जियै, जियै तो बाउर होय ॥
 कै विरहिनको मीच दे, कै बापा दरसाय ।
 बाठ पहरफा दाँभना, मो पै सहा न जाय ॥
 हिरदे भीतर दब बलै, धुआं न परगट होय ।
 जाके लागी सो लखै, की जिन लाई सोय ॥

परन्तु

“काहू विधि-विधिकी दनावट बचैगी नाहि ।

जो पै वा वियोगिनी की बाह कटि जायगी ॥”

इत्यादिक कहनेवाले आधुनिक कवि विरहकी उस
 गहरी चोटका अनुभव कहाँ कर सकते हैं। चमत्कार-
 पूर्ण अस्वाभाविक उक्तिको पढ़कर कुछ समयके लिये
 मनोरंजन भले ही हो जाय परन्तु वियोगकी सच्ची
 दशाका अनुभव कदापि नहीं हो सकता। यों तो संसार-
 के बड़े-बड़े विद्वानों ने कविताको न जाने कितने प्रकारसे
 परिभाषित किया है परन्तु वर्ड्सवर्थ (Wordsworth)
 कविताको “संपूर्ण दान राशिका इरास तथा अन्तरात्मा”
 कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं। ईर्सीकी ओर संकेत
 करते हुए उन्होंने कहा था कि “कविता वह वस्तु है

एक ही सा कार्य करता है चाहे वह भारतवर्षमें हो या कहीं और। विधि अथवा शैलीमें भेद तथा समयका हेर फेर तो एक नैसर्गिक नियम है परन्तु इसका आन्तरिक समतापर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। साहित्यसे बढ़कर इस समताका परिशीलन शायद ही कहीं और हो सके। क्योंकि साहित्यका मानव जीवनसे बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है और इसीलिये मानव समाजसे भी इसका एक अनिवार्य सम्बन्ध है।

प्रायः यह देखा जाता है कि पहले समाजकी रचि एवं उसकी परिस्थिति साहित्यका निर्माण करती है तदुपरान्त यही साहित्य समाजकी रचि एवं उसकी परिस्थितिका बहुत अंशोंमें निर्माण करता है। परन्तु सैकड़ों वर्षोंके विस्तृत साहित्यकी आलोचनाके लिये एक छोटा-सा लेख पर्याप्त नहीं हो सकता। यद्यपि इस लेखको तो इस नवीन विचार धाराका केवल भूमिका ही कहना चाहिये।

अस्तु हिन्दीका उत्पत्ति काल लगभग १००० ई० कहा जाता है और इसके तीन सौ वर्ष पहले अंग्रेजी साहित्यकी नींव पड़ चुकी थी दोनों साहित्योंके प्रथमाक्षुर

था: यदि यहां मुसलमानोंके हमले होते रहते थे तो वहां भी 'कांकरर' का आतंक कम न था। अर्थात् शांति न यहां थी और मारकाट और पारस्परिक बखेड़े जिस प्रकार यहां नित्य प्रतिके धन्धे हो गये थे उसी प्रकार वहां भी। ऐसी अशान्ति पूर्ण परिस्थिति केवल वीर रसके लिये ही उपयुक्त हो सकती थी और फलतः दोनों ही देशोंके साहित्यमें वीर रसका प्राधान्य है भी। परन्तु इतने पर भी दोनोंमें कुछ न कुछ भेद तो है ही। यहांका रासो साहित्य केवल एक कथाके रूपमें राजा भ्रां या वीरोंका गुणगान ही नहीं है वरन वह तो एक पूरा इतिहास है परन्तु "बूउल्क" (Bū'ulq) इत्यादिकमें कथांशपर ही अधिक ध्यान रक्खा गया है।

रासो साहित्यके विषयमें लोगोका धारणा कुछ ऐसी बन्ध गयी है कि उसकी उत्पत्ति केवल मुसलमानोंके युद्धोंके कारण हुई। यह ठीक नहीं क्योंकि जैसा इतिहाससे ज्ञात होता है वुन्देलखण्डपर मुसलमानोंका हमला बहुत कालतक नहीं हुआ था वरन यों कहना चाहिये कि जब मुसलमानोंके आगमनका कोई प्रभाव भी वुन्देलखण्डपर नहीं पड़ा था उस समय भी वहा 'जाल्दखण्ड' इत्यादिकके

था; यदि यहां मुसलमानोंके हमले होते रहते थे तो वहां भी 'कांकरर' का आतंक कम न था। अर्थात् शांति न यहां थी और मारकाट और पारस्परिक बखेड़े जिस प्रकार यहां नित्य प्रतिके धन्ये हो गये थे उसी प्रकार वहां भी। ऐसी अशान्ति पूर्ण परिस्थिति केवल धीर रसके लिये ही उपयुक्त हो सकती थी और फलतः दोनों ही देशोंके साहित्यमें वार रसका प्राधान्य है भी। परन्तु इतने पर भी दोनोंमें कुछ न कुछ भेद तो है ही। यहाका रासी साहित्य केवल एक कथाके रूपमें राजाश्री या वीरोंका गुणगान ही नहीं है बरन वह तो एक पूरा इतिहास है परन्तु "बूडल्फ" (Beowulf) इत्यादिकमें यथांशपर ही अधिक ध्यान रक्खा गया है।

रासी साहित्यके विषयमें लोगोंको धारणा कुछ ऐसी बन्ध गयी है कि उसकी उत्पत्ति केवल मुसलमानोंके युद्धोंके कारण हुई। यह ठीक नहीं क्योंकि जैसा इतिहाससे ज्ञात होता है वुन्देलखण्डपर मुसलमानोंका हमला बहुत फालतफ नहीं हुआ था बरन यो घटना साह्ये कि जब मुसलमानोंके आगमनका कोई प्रभाव भी वुन्देलखण्डपर नहीं पड़ा था उस समय भी वहा 'जालखण्ड' इत्यादिकके

भाव भी साहित्यमें पैठ चुका था जब साहित्यमें हवाई
 स्त्रिले नहीं बांधे जाते थे वरन उसमें जीवनका साक्षात
 प्रतिबिम्ब देख पड़ता था। और 'चासर' ने 'नाइट्सटेल'
 इत्यादिक लिखकर 'प्रेमकथाओं' की प्रथा भी प्रारम्भ कर
 दी थी।

जब यदि इसी समयका भारतवर्षका चित्र देखा जाय
 तो वह भी इससे बहुत कुछ मिलता-जुलता है। न केवल
 शासन सम्बन्धी ऐस्फेर ही वरन धार्मिक एवं सामाजिक
 समस्या यदा भी कुछ कम जटिल न थी। यही समय था
 कि बाबा गोरखनाथने गौरी एवं शारदा धर्मों की घोषणा
 की थी, यही समय था कि रामानन्द प्रभूति धर्मात्मकों-
 ने वैष्णव धर्मकी स्थापना की थी और विद्यापिनने भी
 मिथिलामें वैष्णव धर्मका राज की दिया था। नाट्यमें
 भी "सिंहदत्त" को दर्शन दे दिया था। जब समाजका
 ही दशा हमना जटिल था तब समाज का नया स्वरूप
 प्रभावसे बने हुए रहता। यदि सामाजिक इत्यादिक
 विज्ञानोंसे साहित्यमें इसी तरह दिव्य मित्र का रूप
 का साहित्य भी सामाजिक परिवर्तनका वह दिव्य ए-
 न्ग बनने में सहायक बनने में सफल होता।

१५ वीं शताब्दीके प्रारम्भ होते ही मानव-जीवनके इतिहासका नया पृष्ठ खुल जाता है। परन्तु इस नवीनतामें भी पुरानी नौबते चिन्ह पग-पगपर देख पड़ते हैं। यह दशा दोनों ही देशोंकी थी। दो विभिन्न साहित्योंमें पग-पगपर इतनी अधिक समानता कभी-कभी ही मिला करती है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि इंगलैण्डमें वासरके समयमें ही Humanism का प्रभाव पड़ चुका था और यह धान्दोलन भी इटलीके सम्पर्कका ही फल था। अब वहींसे फिर प्रभावित होकर “वायट” और “सरे” एक नये धान्दोलनका प्रचार करते हैं और यदि ध्यानसे देखा जाय तो यह भी Humanism पर ही स्थित था और दोनोंमें भेद भी कुछ विशेष न था। “वायट” और “सरे” ने “सानेट्स” का साहित्यमें आविष्कार एक नये सिरेसे किया। इन्हें सन १५५७ ई० में “टाट्ल” ने अपनी “मिसे-लेनी” में एकाग्रत किया था। इनका प्रभाव इंगलैण्डके साहित्यपर इतना अधिक पड़ा था कि देशमें चारों ओर प्रेम गानोंका समुद्र सा लहराने लगा कि साहित्यका प्रत्येक पाश्चै उससे परिप्लावित हो गया।

अब यदि यहांके साहित्यपर दृष्टि डाली जाय तो देखा जा चुका है कि रामानन्द, विद्यापति तथा गंगाधर पादनाथकी कृपासे वैष्णव एवं शाक्त धर्मोंकी सृष्टि होती थी। परन्तु शैव और शाक्त समयके अनुकूल न होने के कारण अधिक जड़ न पकड़ सके। वैष्णव धर्म धीरे धीरे अपना स्थान पाता ही रहा, परन्तु अब धीरे धीरे इसके भी नये नये रूप देख पड़ने लगे। यद्यपि रामानन्द अपने धर्मके प्रचारके साथ ही साथ अनेक धार्मिक सामाजिक सुधारोंकी भी आयोजनाकी थी परन्तु तब तक उपासनाका सम्बन्ध था वहाँ तक उन्होंने रामानन्द विष्णुका अवतार मानकर केवल उन्हींकी उपासना का नियम रक्खा था। कबीर दास थे तो, उन्हींके चेहरे उनका सिद्धान्त कुछ दूसरा ही था। यों तो वे 'राम'के ही उपासक परन्तु इनके 'राम' विष्णुके अवतार अथवा दशरथके पुत्र न थे वरन् वे तो व्यापक निरालोचन परब्रह्म थे। इसी समय वैष्णव मतके एक तीसरे रूप भी आयोजना हुई। वह थी कृष्णको विष्णुका अवतार मानकर उनकी उपासना। इसके प्रवर्तक थे बल्लभ पुरीजी। इन तीनों सिद्धान्तोंमें अन्तर केवल बाह्य रूप

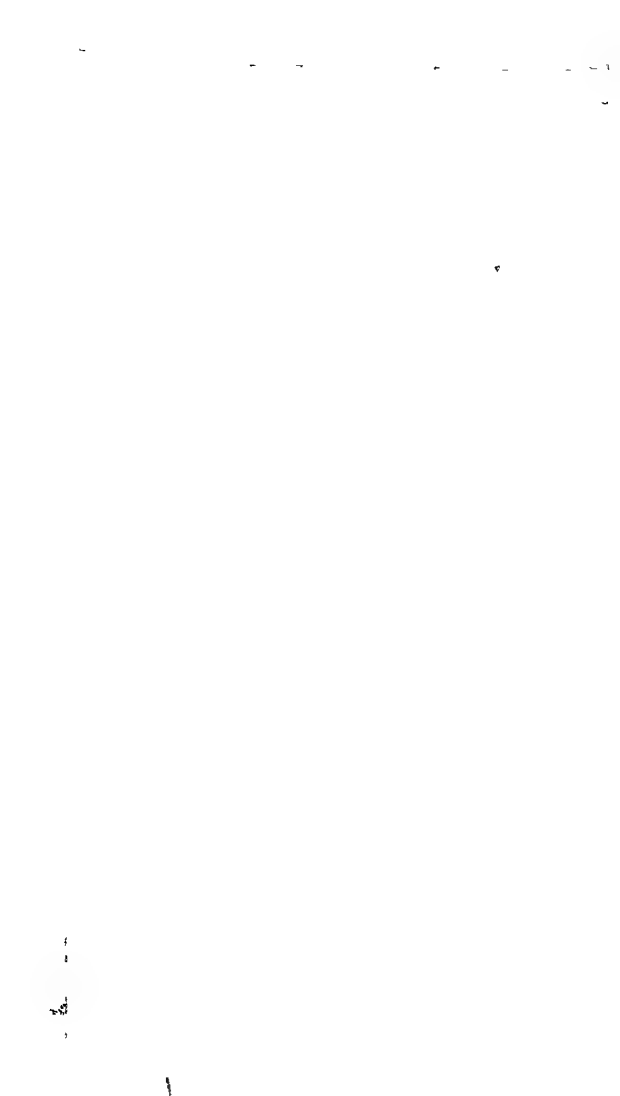
ही न था बरन “भावना” का अन्तर विशेष था । रामा-
नन्दके अनुयायी अपने इष्ट देवकी “उपासना” पर बहुत
अधिक ध्यान देते थे न कि उसकी ‘भक्ति’ पर । उनकी
उपासनामें भक्तका अपने इष्टदेवके प्रति स्वामीभाव हुना
करता था परन्तु बल्लभाचार्यने “भक्ति” पर विशेष ध्यान
दिया और उनका अपने देवताके प्रति ‘सखाभाव’ था ।
कबीर साह्यका सिद्धान्त इन सबसे भिन्न था । वे तो
यागिक क्रियाओंके द्वारा सम्पूर्ण भक्तिके ही प्रतिपालक
थे और इसीको वे सिद्ध मार्ग समझते थे ।

परन्तु इन सब भेदोंके होते हुए भी सबमें एक बड़ी
भारी समानता था कि सबोंने प्रेमको ही मुख्य स्थान
दिया था । धार्मिक उधल पुथलके कालमें प्रेमकी
पुकार प्राय देजके कोने कोनेमें पहुच चुकी थी ।
उस समय के जावनपर प्रेमकी सत्ताका पता तभी
चलता है जब उस समयके साहित्यपर एक व्यापक
दृष्टि डाली जाय । जिधर ही दृष्टि उठती है
उधर हा साहित्यका सिन्धु “प्रेम” की तरंगोंसे
उद्रेलित देख पडना है । अतः दोनों साहित्य महा-
सागरोंमें प्रेमका ज्वार-भाठा प्राय एक ही समयमें उठा ।

दोनों धाराओंके मोड़ भी प्रायः एकले ही हैं।

यदि और अधिक व्यापक दृष्टि डाली जाय तो पता चलता है कि यहांके इस युगके साहित्यकी रचना बहुत कुछ पाश्चात्यके समान ही हुई है। प्राचीन शैली और विषय अधिक रुचिकर नहीं प्रतीत होते थे। विविध पत्र पत्रिकाओंके द्वारा यहा भी ज्ञान चित्रणका यथेष्ट प्रयत्न देख पडता है। 'जिज्ञासा और आलोचना' की वृद्धि भी जहां-तहां हो ही रही थी यदि ऐसा न होता तो कदाचित् आज पुराने साहित्यकी खोज की चर्चा भी न होता। और शायद साहित्यके अंग और उपान्गों की वृद्धिकी लोग आश्चर्यकता भा न समझते।

अनेक प्रकारले समता होणेकडे कारण द्यावी लाग-
 ति-पसंदा भी अधिक भिन्न नही हो सकता थी । अतः
 बहुत पानले द्याके साहित्यका जाच भा वास्तु'इकता'
 लपरा निरात्मक व' दसंदीपर व' उ' व' है । कदा
 कचित्ता कदा न हूँ और दया उपदान समाज' पान
 हली कजाता व' जात है मयत्र एह' देता जात
 है कि कता व' दयाप न दानन साध है मयत्र नही
 पान्नु मयत्र : दया दान दू है व' दयाप न दान दू



जातो ममायं विषदः प्रकामम्

प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा ॥

न केवल वही वरन् आये दिन ऐसी घटनाएं देखकर चित्त
द्रवित हुवा करता है। इसी प्रकार न केवल विछोहमें
ही वरन् संयोगमें भी ऐसे अवसर आते हैं जिन्हें देखकर
हृदय विचलित हो जाता है और करुणा जागृत हो उठती
है। जैसे चौदह वर्षके वियोगके उपरान्त भरत और राम-
का सम्मिलन अथवा राम और कौशल्याकी भेंट

(१) जाई धरे गुरु-चरन सरोरुह ।

अनुज सहित अति पुलक तनोरुह ।

गहे भरत पुनि प्रभु पद पकज ।

नमत जिनहि सुर मुनि संकर अज ।

परे भूमि नहि उठत उठाए ।

वर करि कृपासिन्धु डर लाए ।

(२) कौशल्यादि मानु सय धाई ।

निराध दच्छ जनु धनु लयाई

× × ×

सय रघुपति मुग कल विलोक'ई

मगल जानि नयन जल राक'ई ॥

पतिपरायणा महिलाकी करुण आह किसे व्यथित नहीं कर देती ?

“मोहि भोग सों काज न वारी ।

सौंह दीठि कै चाहन हारों” पद्मावत

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रृङ्गार क्षेत्रमे भी वियोग और संयोग दोनों ही अवसरोंपर ऐसी घटनायें घटती हैं जो अन्तर्गतमे मृदुल स्थलोंको स्पर्श कर जाती हैं और कारुणिक भावनाकी उत्पत्ति कर देता हैं ।

इसी प्रकार रौद्र अथवा भयानक रसोंके क्षेत्रमे भी ऐसे अवसर प्रायः आ जाते हैं जहां हृदय द्रवित हो जाता है। जैसे शेक्सपियरने अपने ‘कोरियोलेनस’ नामक नाटक में एक स्थानपर चित्रित किया है कि वीर ‘कोरियोलेनस’ अपने देशके विरुद्ध विपक्षका सेनाका नायक बनकर आया है। देशका किसी प्रकार प्राण न देखकर उसकी माता उसके पास देशकी रक्षाका भिक्षा मागने जाती है। परन्तु वह प्रार्थके आवेशमे माताका भातिरन्कार कर देता है उसी समय वृद्धा माता अपने पुत्रके स्तनमे घुटने टेक देता है। तब कोरियोलेनसकी विस्त-मन अपने आप दल जाया है और दह रहता है -

Be thus when thou art dead,
and I will kill thee,

And love thee after—

one more and that is the last :

So sweet was ne'er so fatal.

I must weep

But they are cruel tears
this sorrow's Leavenly

It strikes where it doeth love."

यही वास्तविक करुणा है जो निरपेक्ष भावसे मनुष्य के हृदयमें सर्वत्र तथा सब कालोंमें वर्तमान रहती है। कुछ विद्वान तो ईश्वरमें मनुष्यताकी विशेषता देखते हैं। उनका तो कहना है कि मानव हृदयका वही वास्तविक रस है जिसका अविरल धारा अध्रूषणमें प्रवाहित होकर निरन्तर हृदय प्रदेशका धाकर निमल किया करे। शान्त और करुणा रसमें तो यह धारा इतने वेगसे बहता है कि बड़ा बल्ले-बल्लाका टिकना संभव ही जाता है। मनुष्य प्रतिक्षण बहता है और लभलता है परन्तु वास्तविकता में

यह है कि प्रत्येक गीतेके बाद मनुष्य अधिक निर्मल होकर ली निकलता है ।

अब प्रश्न उठता है कि यदि मनुष्य स्वभावसे ही शृङ्गार प्रिय है और उसे उसीमें आनन्द मिलता है— तथा हास्यमें उसका हृदय खिलसा उठता है तो भला करुणामें क्या होता है और हृदय धुलकर निर्मल कैसे हो जाता है ? यद्यपि सजल नेत्र तथा खिन्न हृदय इसके आवश्यक अनुभव है तथापि इनके अतिरिक्त भी इसमें कुछ ऐसी कोमल भावनाओंका उद्भेद होता है जो केवल अनुभवकी ही वस्तुएँ हैं । उनका वर्णन किसी प्रकार संभव ही नहीं है । हृदयकी इन कोमल भावनाओंका प्रजागरण जीवनपर कितना प्रभाव डालता है तथा जीवन में इसका कितना मूल्य है । इसको प्रसिद्ध विद्वान् Aristotle ने Tragedy की उत्पत्तिके समयमें कहा था कि यदि सुधार साहित्यका ध्येय हो सकता है तो उसके केवल दो मार्ग हैं । एक तो अच्छे अच्छे तथा ऊँचेसे ऊँचे आदर्श सम्मुख रखकर सुधारके मार्गपर अग्रसर होनेके लिये प्रात्साहित करना तथा दूसरा है मनके कलुष-को धोकर उसे निर्मल करना । इस दूसरे मार्गको उसने

विषय परिशिष्ट

अरवी	५, १६, ३१, ३३
अष्टछाप	१३
आन्दोलन (स्वदेशी)	५०
आन्दोलन (असहयोग)	६१, ६२
आदर्शवाद	१४१
उपन्यास	५३, ५४, ६५, ६८, ६९
वर्ग	४, ५, ३३, ३४, ३५, ३८, ५३, ५४, ७३, ७६
कला	१२६
कृषि	६४
खडा बोला	५ २७ ३२, ३५ ७४, ७८ ८२ ८७, ९१
गद्य	३६
गद्य काल्प	६५, ६८ ६९
गद्य युग	४६
गङ्गा	७३ ७६
गल्प	५८ ६५ ६६ ६७, ६९
छायावाद	७७ ८६ ८७ ९६, १००
जावन चरित्र	६५

रत्न (वीभत्स)	८४
रत्न (हास्य)	८४, ८७
रहस्यवाद	१२८, १३८
राजनीति	६४
राष्ट्र	११
राष्ट्रभाषा	१६, ७५, ७६
रीति	८१
रीतिकाल	१३०
रीति ग्रन्थ	७७
रेखा	३०
रैशनलिज्म (Rationalism)	१३१, १३३
ललित साहित्य	४३
लिपि	१८, १६, २२
लिपि (रोमन)	१६, २०
लिपि (राष्ट्र)	१६
विज्ञान :	६४
सनद	२६
समस्या पूर्ति	७५
समालोचना	६५
सम्पत्ति-शास्त्र	५८, ६३
समाज शास्त्र	६३
सुर्का	११६
ह्यूमनिज्म (Humanism)	११८, १२१

प्रसाद जयशकर	६५ ६७.
प्रिय प्रवास	१०२.
प्रेमचन्द	६५. ६७.
प्रेमाश्रम	६५.
प्रेमधन बद्रीनारायण	८६; १०२;
प्रेमसागर	३४,
फणीस	११०,
फेयरीकवीन	१२०,
बादल	६८.
बिहारी	७, २१, १३०,
बोजक	१३.
बू उल्फ	११७
ब्लेक	१३८
दैताल पवांसा	१४
घट	११३
मह दालवृष्ण	४१ ५६.
महुरा	७
मयभूति	११०, १७३
भारताय आम्ना	१०६
भारत गाता	६३
भारत जुष	८९
भारत भारत	६३
भारत एरिग	३८ ४० ४३ ४६ ५२ ७३ ७५

राममोहन राय	७६,
रामचन्द्रशुक्ल	४२, ६६, १०२,
राजाशिवप्रसाद	३६, ४०, ४३, ४७, १३०,
राजा लक्ष्मणसिंह	३८; ४७,
रानी केतकीकी कहानी	३३,
रामानन्द	११६; १२२, १२३, १२५; १२७,
रासो पृथ्वीराज	११६,
रेन	११६,
रेदास	१२. ६७,
लज्जाराम मेहता	६३,
लाल	७. १२,
लल्लू लाल	३४, ३५, ३६,
लाला भगवान दीन	४३.
लेयामोत	११६,
वर्मा कृष्ण बलदेव	४२.
बरमाला	६६.
वज्रसूत	७१ १०७ १३४
बल्लभाचार्य	१२३ १२५ १२७
बायट	७६. १२५ १२६
विद्यापति	१२ ७० १२२. ११६
विद्यार्थी गणेशशंकर	६३
विह्वलनाथ	२६ ४९
विद्योना हरि	६६

सिद्धासन चत्तीसी	३४,
सीताराम	८७,
सुदर्शन	६७,
सुभद्राकुमारी चौहान	६४, १०७, ११६
सुर	७, १२, ७०, १०३, १२६, १२७.
सेनापति	७१.
सैन्दवरो	१३०.
स्पेन्सर	१२०, १२५, १२६,
सेवा सदन	६५.
हरिर्बोध अयोध्यासिद्ध उपाध्याय	६०, ६४ १०२.
हृदयेश	६५ ६७.

कौशिक	६६.
कोलरिज(Coridji)	७६, १०५, १३४.
क्रिटिसिज्म (Criticism)	१३१,
क्रेशा	१३८,
खत्री देवकीनन्दन	५२. ५३.
खुनरो (बमोर)	७, २७, ७७
गंग भट्ट	३१,
गढ़ कुण्डार	६५,
गालिय	५,
गिरिधर	७. १२. ७१,
गिरीश (गिरिजाशंकर शुक्ल)	७७
गुप्त मैथिलोशरण (नधुष)	६३. १०२,
गुप्त घोलमुकुन्द	७२, ११२.
गुरु वामता प्रसाद	७८,
गोरख नाथ	२७ ४७ ११६ १२०
गोकुलनाथ	४७ ४६
गोदान	६५
गोन्वामी विश्वरीलाल	१००
घाघ	६
चन्द्रदरदाया	६ २६ ७० ११६
चतुरसेन शास्त्री	६६
चन्द्रकान्ता	७४
चातर	११८. ११६ १२०.

शुद्धिपत्र

नोट—यों तो आजतक हिन्दीकी कोई पुस्तक प्रकाशित नहीं हो सकी जिसमें छपाईकी अशुद्धियां न हों और फटाचिट् इसी कारण पाठक भूलोंको सुधार कर पढ़ लेनेके सम्भवस्तले हो गए हैं। यद्यपि यह परिस्थिति वाञ्छनीय नहीं तथापि काफ़ी शरारत जरूर है। इस छोटी सी पुस्तकमें भी ऐसी न जाने कितनी भूलें हैं लेकिन कुछ तो दुर्भाग्यवश ऐसी हैं कि वे यदि शुद्धिपत्रकी सहायता न पढ़ी जाय तो मतलब ही ख़राब हो जायगा मतलब ऐसा ही भूलोंके लिए यह पत्र रंगाया गया है शेष पाठक स्वयं शुद्ध कर लेंगे।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७	१०	उपर	
६	१५	महादश	सुहादश
	१६	दशना	दशना
१५	१६	सहज	सहज
१६	१६	सहज	सहज
२५	२	दश	दश
२८	१	दश	दश
२९	५	दश	दश

